सुहृद्वर

श्री० शंकरसहाय जी सकसेना

एम० ए०, एम० काम०

अर्थशास्त्र-शिक्षक, बरेली कालिज,

को सप्रेम समर्पित

इस पुस्तक के संस्करण

संस्करण	प्रतियाँ	सन्
पहला संस्करण	१००० प्रतियाँ	सन् १९१८ ई०
दूसरा ,,	१००० ,,	,, १९२३ ,,
तीसरा ,,	६५०' ,,	,, १९३९ ,,
चौथा ,,	६२५ ,,	,, १९४३ ,,
पाँचवाँ ,,	१००० ,,	,, ,, ,,
छठा ,,	१००० ,,	,, १९४५ ,,
सातवाँ ,,	१५०० ,,	,, ,, ,,

निवेदन

एक अंगरेज कवि ने कहा है कि मैं सोया तो मुझे मालूम हुआ कि जीवन एक सौन्दर्य है; पर, मैं जागा तो मालूम हुआ कि जीवन एक कर्त्तव्य है। असल में जागृत व्यक्तियों, संस्थाओं तथा राष्ट्रों के लिए जीवन कर्त्तव्य-स्वरूप ही होता है। जागृत भारत-सन्तान को राष्ट्रीय समस्याओं की उपेक्षा करना शोभा नहीं दे सकता। हरेक आदमी को चाहिए कि वह इन समस्याओं को हल करते हुए राष्ट्र की प्रगति और उन्नति में भरसक हिस्सा ले।

इस पुस्तक के नये संस्करणों में समय-समय पर सुधार और संशोधन किया जाता रहा है। इस संस्करण में नयी तालीम, हिन्दुस्तानी भाषा, पाकिस्तान और लार्ड वेवल की योजना आदि के बारे में भी विचार किया गया है, और भाषा भी आसान करने की कोशिश गयी है। आशा है, यह पुस्तक पाठकों को, उनका कर्त्तव्य पालन करने में, मदद देगी।

विनीत

भगवानदास केला

विषय-सूची

पहला परिच्छेद

राष्ट्र निर्माण

आओ, भारतीय ! भारत का राष्ट्र-भवन निर्माण करें ।
दुखिया जननी-जन्मभूमि का मिल-जुल कर सब त्राण करें ॥

—*कर्ता*

प्रिय बान्धवो ! आलस्य अपना वेग खोना चाहिए ।
कर्त्तव्य पथ में शीघ्र अब आरुढ़ होना चाहिए ॥
जी-जान से बल-वृद्धि का उद्योग करना चाहिए ।
राष्ट्र-निर्माणार्थ अब कटिबद्ध होना चाहिए ॥

—*हनुमतप्रसाद जोशी*

हमें अपने देश की विविध राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करना है । इसके लिए पहले यह जान लें कि राष्ट्र ('नेशन') किसे कहते हैं, और उसका निर्माण किस प्रकार होता है, यानी वह किस तरह बनता है ।

मनुष्यों का संगठन; परिवार और वंश—राष्ट्र बनने से पहले, मनुष्यों को कई मंजिलें तय करनी होती है; उनके बारे में कुछ ज्ञान प्राप्त करने से राष्ट्र-सम्बन्धी बातों को समझने में सुविधा होगी । मनुष्य अपने स्वभाव से ही समाज-प्रिय है । अकेले रहने की दशा में उसे अपना स्थान बड़ा सुनसान मालूम होता है । किससे बातें करे,

कैसे अपना जी बहलाए; ये प्रश्न उसके सामने आते हैं। अकेले, उसका मन नहीं लगता। फिर, अकेले रहने की दशा में उसे जंगली जानवरों का भी भय रहता है। इसके अलावा उसकी तरह तरह की ज़रूरतें हैं, उन्हें पूरा करने के लिए भी उसे समाज में रहना होता है। प्राचीन काल में मनुष्य का जीवन बहुत सरल और सादा था, उसकी जरूरतें कम थीं, तो भी उसे भूख-प्यास और सर्दी-गर्मी आदि तो लगती ही थी। उसे भोजन और पानी की ज़रूरत होती थी। पानी जहाँ-तहाँ नदियों या झरनों में मिल भी जाय, भोजन तो हर जगह मिलना कठिन था। शिकार के लिए मनुष्यों को एक-दूसरे के साथ मिलकर, मंडली या टोली बना कर रहना पड़ा। पीछे पशु-पालन और खेती के लिए तो आदमियों को इकट्ठे तथा स्थायी रूप से एक जगह रहने की और भी अधिक जरूरत हुई।

धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ी, मनुष्यों की जरूरतें भी बढ़ती गयीं। अब तो उनके अकेले-दुकेले रहने की बात ही क्या, अकसर एक गाँव में भी मनुष्य की सब ज़रूरतें पूरी नहीं होतीं, उसे दूसरे गाँवों ही नहीं, दूर-दूर के नगरों या कस्बों से सम्बन्ध रखना होता है। कोई मनुष्य केवल अपनी ही मेहनत से गुजारा नहीं कर सकता। उसे दूसरों से सहायता लेनी, और उन्हें सहायता देनी ही पड़ेगी। इस तरह मनुष्यों का आपस में सम्बन्ध होना लाजमी है।

शुरू में मनुष्य का प्रेम अपने परिवार से होता है। जन्म लेने के समय से ही हरेक बच्चे का अपनी माता से और कुछ समय बाद पिता से, सम्बन्ध हो जाता है। अच्छी तरह चलने-फिरने योग्य होने में उसे कई साल लग जाते हैं। अपना गुज़ारा करने की योग्यता तो आदमी में अपनी उम्र के एक डेढ़ दर्जन वर्ष बिता देने पर आती है।

इतने समय तक वह अपने माता-पिता के आसरे रहता है। बड़ा होने पर स्त्री पुरुष का विवाह-सम्बन्ध होता है। इनकी सन्तान होती है। इस तरह नये-नये परिवार बनते रहते हैं।

अकसर एक परिवार दूसरे परिवार की चीजों का उपयोग करना चाहता है; इसलिए या तो उससे मित्रता करता है, या उस पर हमला करता है। मित्रता के लिए उस से मेलजोल होता है। दूसरे पर हमला करने के लिए, अथवा दूसरों के हमले से बचने के वास्ते भी, परिवारों या वंशों का संगठन होता है, और एक समूह में रहनेवाले मनुष्यों की संख्या बढ़ती जाती है। पास-पास रहते हुए इन समूहों के आदमियों में एक दूसरे की सहायता करने का भाव बढ़ता जाता है। कभी-कभी इन समूहों में ऐसे आदमी भी शामिल हो जाते हैं, जो दूसरे वंशों या समूहों के हों। ये भी इनसे मिलजुल कर रहने लग जाते हैं और अन्त में इनके ही हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों इन समूहों के मनुष्यों की संख्या तथा ज़रूरतें बढ़ती हैं, ये नये-नये गाँव या नगरों को बसाते जाते हैं, और उनमें बँट जाते हैं। इस प्रकार, एक समूह के आदमी के मित्र या सम्बन्धी अलग-अलग स्थानों में रहने लगते हैं और इसलिए जुदा-जुदा गाँवों या नगरों के निवासियों का आपस में सम्बन्ध होता जाता है।

जाति—एक समूह के आदमियों का आपस में बहुत मेलजोल होता है। जब वे कई पीढ़ियों तथा सदियों तक इकट्ठे एक ही जगह रहते हैं और आपस में उनका खान-पान तथा विवाह-सम्बन्ध होता रहता है तो उन का रहन-सहन एक खास तरह का हो जाता है। उनके दुख-सुख, उनके स्वार्थ, उनके रीति-रिवाज, त्योहार, उत्सव और मेले आदि एक ही हो जाते हैं। इस तरह, जैसा कि श्री० भारत-भक्तजी ने, राष्ट्-

निर्माण' में लिखा है, जिस समय एक समूह के मनुष्य मिलजुल कर एक स्थान पर रहने लगते हैं, और उन सब के रहन-सहन तथा उनके जीवन में एक ऐसी विशेषता आ जाती है, जो दूसरे मनुष्य-समूहों में नहीं मिलती, तो वे अपनी एक विशेष सभ्यता खड़ी कर लेते हैं; पीढ़ियों तथा सदियों तक जातीय साहित्य और जातीय रीति-रिवाज द्वारा उस सभ्यता को बनाये रखते हैं, तथा उसकी उन्नति करते रहते हैं। वे समान-हित तथा एक आदर्श की कड़ी में बंध जाते हैं। उस समय उस मनुष्य-समूह को एक 'जाति' कहने लगते हैं। इस प्रकार धीरे धीरे कई जातियाँ बन जाती हैं। एक जाति के लोगों को आपस में बांधने वाली तथा दूसरी जातियों से उनकी जुदाई दिखलाने वाली कई शक्तियाँ होती हैं, उन में तीन मुख्य हैं:—एक-देशीयता, धार्मिक एकता और भाषा की एकता।

इस सम्बन्ध में जर्मन विद्वान ब्लंशर्ला ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'थियरी-आफ-दि-स्टेट' में इस आशय का भाव प्रकट किया है कि किसी जाति का मूल तत्व उस जाति की सभ्यता तथा उसका भीतरी संगठन है, और उसकी दूसरी जाति से अलहदगी प्रायः उसकी सभ्यता की उन्नति से ही होती है। अर्थात् दो जातियों की सभ्यताओं की उन्नति में जितना अधिक अन्तर होता है, उतना ही वे अधिक जुदा-जुदा मानी जाती हैं।

'जाति' शब्द व्यापक अर्थ रखनेवाला है। समय के परिवर्तन से इसका अनर्थ हो गया है; अब इससे बहुत संकुचित अर्थ भी लिया जाता है। मिसाल के लिए, भारतवर्ष में आजकल ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र उपजातियों को ही नहीं, इनकी अनेक छोटी-छोटी शाखाओं के लिए भी 'जाति' शब्द काम में लाया जाता है; जैसे गौड़ ब्राह्मण,

माहेश्वरी वैश्य, अग्रवाल वैश्य, बढ़ई लुहार, आदि जाति। असल में इन सब के संगठित स्वरूप को एक जाति कहना चाहिए; ये सब आर्य जाति के अंग हैं।

राष्ट्र—याद रहे कि आदमियों के किसी समूह को केवल एक जाति होने से ही 'राष्ट्र' नहीं कह सकते। जाति और राष्ट्र में बड़ा अन्तर है। किसी जाति में अकसर एक ही कुल या नसल के आदमी रहते हैं। बहुत मुद्दत तक पास रहने से जब इनमें अपने देश का, और राज्य की एकता का, भाव मज़बूत हो जाता है, तब ये लोग 'राष्ट्र' कहलाने योग्य हो जाते हैं। इस प्रकार राष्ट्र में शासन या राज्य का भाव होना लाज़मी है, जाति में यह बात नहीं होती। प्रत्येक जाति का राष्ट्र होना ज़रूरी नहीं है। राष्ट्र में जाति का होना अनिवार्य है, और एक राष्ट्र में एक-से-अधिक जातियाँ भी हो सकती हैं। निदान, राष्ट्र आदमियों के उसी संगठित समूह को कहते हैं, जो भूमि के किसी निश्चित भाग पर एक शासन में रहते हुए अपने छोटे बड़े सब हिस्सों की शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और राजनैतिक हर तरह की तरक्की करने में लगा हो।

भूमि राष्ट्र का स्थायी या अचल भाग है। यह राष्ट्रीय शरीर के लिए ढांचे या पिंजर का काम देती है। इस शरीर को जानदार बनानेवाली शक्ति जनता है। जनता ही राष्ट्र का प्राण है। इससे राष्ट्र में जनता का महत्व साफ जाहिर है। राष्ट्र-निर्माण के विचार से जनता के सम्बन्ध में दो बातें खास तौर से ध्यान देने योग्य होती हैं:—संख्या और सामर्थ्य। बहुत छोटे-छोटे जन-समूहों से राष्ट्र नहीं बनता; और असमर्थ, अयोग्य या असंगठित मनुष्यों से भी काम नहीं चलता; चाहे उनकी संख्या कितनी ही बड़ी क्यों न हो। भारतवर्ष के

सम्बन्ध में इस विषय का विचार आगे किया जायगा।

मिल आदि कई लेखकों और राजनीतिज्ञों ने राष्ट्र की व्याख्या में खुलासा लिखा है। उनका आशय यह है कि मानव समाज के किसी अङ्ग को राष्ट्र उस दशा में कहा जाता है, जब उसके आदमी आपस में ऐसी सहानुभूति से मिले हुए हों, जो उनमें और दूसरे आदमियों में न हो; उनका आपस में इतना सहयोग हो, जितना वे दूसरों से न रखते हों; और, उनकी यह चाह हो कि वे एक ही शासन में रहें और वह शासन उनका हो, अथवा केवल उनमें से ही कुछ लोगों का हो, दूसरों का नहीं। राष्ट्रीयता की यह भावना कई कारणों से पैदा हो सकती है। कभी-कभी इस का कारण यह होता है कि वे आदमी एक ही जाति या नसल के होते हैं। भाषा और धर्म की एकता से इसमें बहुत सहायता मिलती है। भौगोलिक एकता भी इसका एक खास कारण होती है। परन्तु सब से बड़ा कारण राजनैतिक परम्परा की समानता होती है। राष्ट्रीय इतिहास, समान सामूहिक गौरव और अपमान, समान सुख और दुख की याद, और समान भविष्य की आशाएँ—यह राष्ट्र-निर्माण की महत्वपूर्ण सामग्री होती है।

राष्ट्र कहने से राज्य के ऐसे आदमियों से मतलब होता है, जिनका यह निश्चय हो कि हम अपना सब का भविष्य अच्छा बनायेंगे। हम अपने सामूहिक कार्यों की देखरेख खुद ही करेंगे, कोई दूसरी शक्ति उसमें दखल नहीं दे सकेगी। इन लोगों में आपस में ऐसे अपनेपन का भाव होता है कि एक का कष्ट सब का कष्ट समझा जाता है, उसके दुख को दूर करने के लिए सब जी-जान से कोशिश करते हैं। किसी भी भय या लोभ द्वारा, एक आदमी दूसरे को हानि पहुँचाने के लिए

तैयार नहीं किया जा सकता।

राष्ट्र के मनुष्यों में भाषा, धर्म, जाति या संस्कृति आदि की बड़ी एकता होती है,; उनमें सबसे बड़ी एकता भावों या दिलों की एकता होती है, जिससे जब एक अंग को कुछ कष्ट हो तो सब अंग उससे सहानुभूति रखते हुए उसके दुख को दूर करने की कोशिश करने लगें। राष्ट्र के आदमी भली भाँति जानते हैं कि हम सब एक ही मातृभूमि की संतान हैं—आपस में भाई-बन्धु हैं, दूसरों के सुख दुःख में हमारा भी लाभ-हानि है। श्री० इन्द्र वेदालंकार जी ने 'राष्ट्रीयता के मूल मन्त्र' में लिखा है:—"जब एक जाति एक ही राज्य के नीचे रहते-रहते पुष्ट हो जाती है, जब उसके अवयव (अंग) मिल कर एक अवयवी को बनाने लगते हैं, तब वह राष्ट्र के रूप में परिणत हो जाती है। पैर में लगे हुए काँटे की कपकपी जब सिर तक पहुँचने लगे, तभी कोई जाति राष्ट्र नाम की अधिकारिणी (हक़दार) होती है, इससे पूर्व नहीं। परिवार, वंश, जाति और, उसमें राज्य के आने के चिरकाल पीछे राष्ट्र—यह सामाजिक उन्नति का क्रम है।"

आम तौर से हम किसी ऐसी जाति को राष्ट्र नहीं कहते, जिसे राजनैतिक अधिकार न हों, और जिस पर दूसरों की हुकूमत हो। असल में, जिस जाति में राष्ट्रीयता के भाव पूरी तरह मौजूद हों, उसे कोई पराधीन नहीं कर सकता; यदि संयोग से वह कभी दूसरों के चंगुल में आ भी जाय तो वह जी-जान से पराधीनता के जाल को तोड़-फेंकने की कोशिश करती है, और प्राय: जल्दी ही या कुछ देर में, इस कार्य में सफल हो जाती है। मतलब यह कि कोई राष्ट्र बहुत समय तक पराधीन नहीं रह सकता।

राष्ट्र-निर्माण और भारतवर्ष—भारतवर्ष की मौजूदा आर्थिक

तथा राजनैतिक दुर्दशा एक खुला रहस्य है। हमारे कितने ही भाई दिन-रात घोर मेहनत करने पर भी भर-पेट अन्न, और शरीर ढकने-योग्य कपड़ा नहीं पाते। उन्हें अपनी मानसिक उन्नति करने का अवसर ही नहीं मिलता। इसी तरह विदेशों में भी हमारा कुछ आदर-मान नहीं होता। कनाडा, दक्षिण अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि में हमारे प्रवासी भाई साधारण नागरिक अधिकारों से वंचित हैं, और बहुत दुख और अपमान का जीवन बिताते हैं। ये बातें अब सही नहीं जातीं। इनका इलाज करना है। और, यह काम हम भारतीय राष्ट्र का निर्माण करने पर ही अच्छी तरह कर सकेंगे।

भारतवर्ष के राष्ट्र बनने की ज़रूरत संसार-हित की दृष्टि से भी है। किसी संस्था की उन्नति होने के लिए यह ज़रूरी है कि उसका हरेक सदस्य उन्नत हो, और सब सदस्यों की आपस में सहानुभूति और सहयोग हो; इस तरह संसार-रूपी विशाल संस्था की काफी उन्नति तभी होगी, जब उसका हरेक हिस्सा खुद उन्नत और स्वाधीन होते हुए एक-दूसरे की भरसक सहायता करेगा; गोरी और काली जाति का भेद, योरपियन और एशियाई जाति का भेद न होगा। जो जातियाँ निर्बल और पराधीन हैं, उनसे संसार की सुख-शान्ति के लिए भय या खतरा है। इसलिए हरेक जाति को राष्ट्र बनना और संसार के हित-साधन में योग देना चाहिए। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उदार नीति वाले भारतवर्ष का तो राष्ट्र बनना और भी ज्यादह ज़रूरी है।

———

दूसरा परिच्छेद
भारत में राष्ट्रीयता

उठो भाइयो ! स्वावलम्बी बनें, सभी शीघ्र राष्ट्रीयता में सनें।
स्वदेशाभिमानी सुज्ञानी बनें, जगत में किसी के न आगे नमें॥

—*हनुमत्प्रसाद जोशी*

भारत में राष्ट्रीय भावों की प्राचीनता—यहाँ राष्ट्र और राष्ट्रीयता की कल्पना वैदिक साहित्य तक में पायी जाती है। यहाँ राष्ट्र के विराट् स्वरूप का विचार प्राचीन काल से है—उस प्राचीन काल से है, जब कि आजकल के, सभ्यता का घमंड करने वाले बहुत से राष्ट्रों का जन्म भी नहीं हुआ था। बहुत मुद्दत से भारतवर्ष के निवासी उत्तर से दक्षिण, और पूर्व से पश्चिम, सारे देश को एक भू-खंड मानते हैं। हिन्दुओं का अनगिनत वर्षों से किया जाने वाला पूजा-पाठ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। संकल्प में हिन्दू सारे देश को श्रद्धा से याद करता है। स्नान के समय हिन्दू गंगा, यमुना, सरस्वती, गोदावरी, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी इन सात नदियों के नाम भक्ति-भाव से लेता है*, जो इस देश के किसी ख़ास हिस्से की न होकर सारे देश में फैली हुई हैं। इसी तरह द्वादश ज्योतिर्लिंग, और चारों धाम आदि के नाम प्राचीन हिन्दुओं की देश सम्बन्धी विशाल कल्पना ज़ाहिर करते हैं। बौद्धों के मठ, आश्रम, विहार और स्तूप (टीले)

* गंगे च यमुने चैव, गोदावरी सरस्वती।
नर्मदे सिंधु कावेरी, जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरू॥

भी किसी एक जगह न होकर भारतवर्ष भर में फैले हुए हैं, और इस देश की एकता की याद करा रहे हैं। राम और कृष्ण केवल उत्तर भारत वालों के ही पूज्य नहीं हैं, उनकी कथा का प्रचार हर जगह है। वेद, पुराण, श्रीमद्भगवद्गीता, रामायण और महाभारत सब की सम्मिलित सम्पत्ति है। जन्म मरण, विवाह-शादी की रीति-रस्म, होली, दिवाली, श्रावणी और दशहरे के त्योहार हर जगह मनाये जाते हैं। यही कारण है कि इस जमाने में यहाँ राष्ट्र-निर्माण सम्बन्धी विचारों का ऐसा आसानी से प्रचार हो रहा है; नहीं तो इतने बड़े हिस्से में, जहाँ कई तरह की अलहदगी मौजूद हो, एक राष्ट्र बनाने की, संसार में कोई दूसरी मिसाल नहीं है।

भावों और व्यवहारों की इस अनोखी एकता से भारतवर्ष की, बहुत प्राचीन काल में, बड़ी उन्नति हो गयी थी। सामाजिक, आर्थिक राजनैतिक आदि सभी विषयों में इस देश की शक्ति बढ़ी हुई थी। यही कारण था कि यहाँ समय-समय पर जो बहुत सी जातियाँ आयीं, वे यहाँ के जन-समुदाय में हिलमिल गयीं, और अन्त में यहाँ की ही हो गयीं; अब यहाँ यूनानी, हूण, सीथियन आदि के अलग-अलग होने का पता नहीं लगता। हमला करनेवाले इस देश के मित्र और बन्धु बन गये। जीतने वाले हार मान बैठे, उनकी संतान को भारत-संतान कहलाने में गौरव या बड़प्पन मालूम हुआ। यह बात अनेक सदियों तक रही।

मध्य-युग की स्थिति—धीरे धीरे हालत बदलती गयी। सम्राट् अशोक के बाद यहाँ शासन-सत्ता भी अकसर कमज़ोर आदमियों के अधिकार में रही। देश अलग-अलग हिस्सों में बँट गया, और हरेक प्रान्त के आदमी अपने आपको दूसरे प्रान्तवालों से जुदा समझने

लगे। इस तरह जब मुसलमान यहाँ आये, भारतवर्ष की एकता घट गयी थी, भारतीय समाज अस्वस्थ और रोगी था। उधर, मुसलमानों में उत्साह और साहस था, और अपने नये धर्म के प्रचार के लिये खूब जोश था। भारतवर्ष का हिन्दू समाज मुसलमानों को अपने में मिलाने में असमर्थ रहा; यही नहीं, धीरे धीरे उनकी विजय होने लगी। इसका कारण यह नहीं था कि यहाँ के सैनिक कमजोर थे, या वे युद्ध-कला में होशियार न थे। नहीं, यहाँ के आदमियों में निजी तौर पर वीरता आदि की कमी न थी; कमी थी, संगठन और एकता के भावों की, सामूहिक बल की, या थोड़े में यों कहो कि कमी थी राष्ट्रीयता की। वीर और साहसी राजपूतों ने अपने संकुचित या अनुदार विचारों के कारण भारतवर्ष को अनजान में पराधीनता की बेड़ियाँ पहना दीं; चाहे उनमें, हरेक बड़ी उम्र का पुरुष और स्त्री ही नहीं, बहुत से जवान लड़के और लड़कियाँ भी मातृभूमि के लिए सब कुछ न्योछावर कर रही थीं, और, अपने प्राणों और सगे-सम्बन्धियों का मोह छोड़ कर मर मिटना हँसी-खेल समझती थीं। अफसोस ! मातृभूमि का मतलब आदमी अपने आस पास की थोड़ी सी ज़मीन मानने लगे। हम अपनी शक्ति का उपयोग अपने भाई-बन्धुओं को नीचा दिखाने में कर रहे थे। देहली पर हमला होता है, और कन्नौज के 'जयचन्दों' को उसकी चिन्ता नहीं। क्यों ? देहली को वे अपनी मातृभूमि का हिस्सा नहीं समझते। यह भाव अनेक रूपों में समय-समय पर काम करता रहा है। मतलब यह कि राष्ट्रीयता न होने से ही यहाँ मुसलमानों ने जोर पकड़ा। धीरे धीरे बहुत से हिस्सों में उनका राज्य कायम होता गया।

यों तो और भी कितने ही मुसलिम शासकों ने हिन्दू जनता के

साथ अच्छा व्यवहार किया, पर अकबर ने यहाँ एक मज़बूत राष्ट्र बनाने की भी कोशिश की; लेकिन उसे अन्त तक वीरवर महाराणा प्रताप आदि हिन्दुओं का विश्वास, प्रेम और सहयोग न मिल सका। उसके बाद राष्ट्र-निर्माण की ओर वैसा ध्यान बहुत समय तक नहीं दिया गया। औरंगजेब आदि की अदूरदर्शिता और साम्प्रदायिकता से भारत के कई प्रान्तों में फिर जुदा जुदा राज्य बन गये। अन्त में मराठों के झंडे के नीचे एक राष्ट्र बनने लगा। लेकिन इसी बीच में कुछ योरपीय देशों के व्यापारियों ने यहाँ आकर अपना-अपना अड्डा जमा लिया, और अपनी चतुराई और नम्रता से हिन्दू और मुसलमान नरेशों तथा जनता का मन मोह लिया। जब योरपीय कम्पनियों की आपसी ईर्षा और प्रतिद्वन्दिता बढ़ी तो उनके एक दूसरे से घोर युद्ध हुए, जिनमें अज्ञान या फूट के कारण भारत-वासियों ने भी हिस्सा बटाया। अन्त में जीत अंगरेजों की रही, और इन्होंने सन् १८५७ तक छल बल और कौशल से धीरे धीरे करके भारतवर्ष के बहुत से हिस्से पर प्रत्यक्ष या गौण रूप से अपनी हुकूमत कायम कर ली। यहाँ अंगरेजों का शासन कानूनी तौर से सन् १८५८ ई० से स्थापित हुआ।

"क्लाइव ने मीरकासिम के साथ व्यवहार में जिस तरीके का आश्रय लिया, उसे नैतिक नहीं कहा जा सकता; और न वारनहेस्टिंग्स की करणी ऐसी थी कि कोई भला अंगरेज उन पर अभिमान कर सके। सिन्ध की विजय का समर्थन स्वयं ब्रिटिश इतिहासकार भी नहीं करते। जिन दो युद्धों के फल-स्वरूप अंगरेज पंजाब में अपना कब्जा जमा सके, उनका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक नहीं है। इतना ही कहना काफी है कि 'भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना करने में साम, दाम, दंड भेद की नीति से काम लिया गया।"*

*'शुभचिन्तक' में प्रकाशित 'लीडर' के एक लेख के अनुवाद से।

अंगरेज़ी राज्य की स्थापना का रहस्य—भारतीय इतिहास की इस मंजिल पर हम फिर यह विचार कर लें कि क्या कारण है कि सात समुद्र पार से आये हुए योरपियनों ने विसातखानों और गिरजाघरों से निकल कर रणक्षेत्र में आने का साहस किया और क्यों वे यहाँ सफल हुए। यह प्रश्न कोई रहस्य नहीं है कि योरपीय कम्पनियों ने अकसर चालाकियों और षड़यंत्रों से काम लिया, और केवल कुछ खास हालतों में ही तलवार का उपयोग किया। उन्होंने भारतवर्ष के एक प्रान्त के सिपाहियों को कुछ सिक्कों का प्रलोभन देकर उनकी ताकत से दूसरे प्रान्त को, और कभी-कभी उसी प्रान्त को 'विजय' किया है; 'स्वामि-भक्त' या 'नमकहलाल' भारतीय सैनिकों ने अपने भाइयों और बहनों पर हाथ साफ करके देश के एक-एक हिस्से की स्वाधीनता नष्ट की है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि हमारी हार का कारण शत्रु-पक्ष की वीरता नहीं थी, बल्कि यह था कि हम में संगठन या राष्ट्रीयता की कमी थी। असल में हम दूसरों से नहीं हारे, हम तो अपने ही आदमियों द्वारा पराजित हुए हैं। यदि भारतवर्ष में उस समय राष्ट्रीयता होती तो योरपीय कम्पनियों को, कोई भी कीमत देने से ऐसे भारतीय न मिलते जो भारतवर्ष को पराधीनता की बेड़ी पहनाने के लिए अस्त्र उठाते और सैनिक पद को लजाते।

भारतवर्ष में अंगरेजों की राजनैतिक प्रभुता कायम हो जाने का एक खास नतीजा यह हुआ कि हमारे ऐतिहासिक विकास का स्वाभाविक क्रम रुक गया। जिस समय संसार के दूसरे देशों में सामंतशाही या जागीरदारी कमजोर हो रही थी, भारतवर्ष में अंगरेजों ने न केवल उसे नष्ट होने से बचाया वरन् उस पर अपना पूर्ण नियंत्रण

रखते हुए उसे और मज़बूत कर दिया। पीछे उन्होंने उसका उपयोग देश की आजादी में रोड़ा अटकाने के लिए किया, जिसका कुफल इस समय तक हमारे सामने है।

राष्ट्रीयता का विकास—अठारहवीं सदी में धर्म, समाज, शिक्षा, साहित्य सभी क्षेत्रों मे हम अपनेपन को खोकर कैसे असहाय हो रहे थे, और उन्नीसवीं सदी में किस तरह यहाँ हिन्दुओं में ब्रह्म समाज, आर्य समाज, थियोसोफीकल सोसायटी और रामकृष्ण मिशन आदि संस्थाओं ने, और मुसलमानों में सर सय्यद अहमद-खाँ आदि ने धीरे धीरे कई क्षेत्रों में क्या-क्या सुधार किया, यह हमने खुलासा तौर पर अपनी 'भारतीय जागृति' पुस्तक में बताया है। हालांकि इनके आन्दोलन का खास विषय राजनीति नहीं था, इस क्षेत्र में भी इनसे बहुत सहायता मिली। असल में जब कोई हकीम किसी रोगी का ठीक इलाज करना चाहता है तो वह उसके किसी भी अंग की ओर बेपरवाह नहीं हो सकता। राजा राममोहन राय ने शिक्षा-प्रचार के अलावा क़ई राजनैतिक सुधारों की कोशिश की। स्वामी दयानन्द जी ने अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' नाम के ग्रन्थ में निडर होकर यह लिखा कि विदेशी राज्य से, चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो, स्वदेशी राज्य, चाहे उसमें कितनी ही त्रुटियाँ क्यों न हो, अच्छा होता है। स्वामी जी की प्रेरणा से लोगों में स्वदेशी, स्वराज्य और चक्रवर्ती साम्राज्य आदि की सोयी हुई भावनाएँ फिर जाग उठीं। श्री० रामकृष्ण परमहंस और उनके शिष्य श्री० विवेकानन्द जी ने विदेशों में भारतीय धर्म के गौरव की घोषणा की। पीछे, श्रीमती ऐनीबिसेन्ट ने तो राजनैतिक तथा राष्ट्रीय आन्दोलन में असली भाग लिया और भारतीय नेताओं के साथ कन्धे से कन्धा

मिला कर भारतीय स्वराज्य के लिए जेल आदि का कष्ट उठाया। इन महानुभावों के परिश्रम से भारतवर्ष को अपने गये हुए गौरव और प्राचीन आदर्शों की याद आयी और लोगों में स्वाभिमान उदय हुआ, और इस तरह राष्ट्रीयता के भावों के विकास और प्रचार का रास्ता साफ हुआ।

विकास के कारण—हमें जरा यह भी विचार कर लेना चाहिए कि यहाँ राष्ट्रीयता के विकास के मूल कारण क्या हैं। असल में राष्ट्रीयता पैदा करने वाली कोई खास एक-दो बातें नहीं हैं, बल्कि कई एक हैं। इनमें पश्चिमी शिक्षा और अंगरेजी भाषा के प्रचार का अच्छा स्थान है, हालांकि वह गौण है। इनसे जो हानि हुई है, उसे सब जानते हैं; तो भी यह मानना पड़ेगा कि इन्होंने राष्ट्रीय जागृति में खासा भाग लिया है। पश्चिमी शिक्षा से हमें योरपीय राजनीतिज्ञों के स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता और देशभक्ति आदि के विचारों का ही ज्ञान नहीं हुआ, हमें यह भी मालूम हुआ कि उन देशों में राष्ट्रीय आन्दोलन किस तरह हुए और हम उनका अपने यहाँ कहाँ तक उपयोग कर सकते हैं। उन देशों के स्वराज्य तथा राजनैतिक अधिकार पाने के प्रयत्नों ने यहाँ के विचारकों को इस दशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा की। फिर अंगरेजी भाषा ने जुदा जुदा प्रान्तों के शिक्षितों को परस्पर में विचार-विनिमय करने की सुविधा दी। उससे पहले कोई एक अन्तर्प्रान्तीय भाषा न होने से यह कार्य बहुत मुश्किल था। राष्ट्र-भाषा हिन्दी का उस समय ऐसा प्रचार नहीं हुआ था। हालांकि अंगरेजी उस समय तो क्या, अब भी जनता की भाषा नहीं है, और न कभी बनने की आशा ही है, तो भी पढ़े लिखे लोगों के लिए उसने राष्ट्रभाषा का सा काम दिया, इसमें सन्देह नहीं है। अंगरेजों के

सम्पर्क के कारण, समय-समय पर यहाँ के सज्जनों ने विदेशयात्रा की, और अच्छी तरह यह अनुभव किया कि स्वाधीन देश के नागरिकों और भारतवासियों या प्रवासी भारतीयों की स्थिति में कितना अन्तर है। वे विदेशी शासन का जुआ उतार-फेंकने के लिए बेचैन हो गये। इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति बढ़ी।

दूसरे देशों की जागृति भी यहाँ राष्ट्रीयता के विकास में सहायक हुई। जापान को रूस पर विजय प्राप्त करते, तथा अरब, मिस्र, टर्की फारिस आदि को करवटें बदलते और जागते देख कर भारतवासियों को यह विचार होने लगा कि आखिर हम भी मनुष्य हैं, हम संगठित आन्दोलन करके अपने राष्ट्र का उद्धार क्यों न करें। जो हो, पहले-पीछे इन विविध बातों ने भारतवर्ष में राष्ट्रीयता के विकास में सहायता प्रदान की है। इस प्रसंग में भौतिक विज्ञान की उन्नति को भी भुलाया नहीं जा सकता। उन्नीसवीं सदी के मध्य में क्रमशः रेल, तार, डाक आदि के प्रचार और उन्नति से दूर-दूर के आदमियों से आपस में मिलने-जुलने और पत्र-व्यवहार करने की सुविधा हो गयी। आमदरफ़्त बढ़ने से प्रान्तीयता का भाव कम होने लगा, दृष्टिकोण में उदारता आने लगी। इसके अलावा, छापेखाने की उन्नति होने से पत्र-पत्रिका और पुस्तकें सर्वसाधारण के लिए सुलभ हो गयीं। इनके द्वारा, खासकर राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं द्वारा, राष्ट्रीय भावों के प्रचार में भारी सहायता मिली है।

भारतवर्ष के हिन्दू मुसलमानों और जागीरदारों आदि का मिलकर, सन् १८५७ की आज़ादी की लड़ाई में भाग लेना जहाँ यह ज़ाहिर करता है कि भारतवर्ष में राष्ट्रीय भावों का प्रचार शुरू हो गया था, उस युद्ध में सफलता न मिलने से यह भी मालूम होता है कि

उस समय तक राष्ट्रीयता का विकास अधूरा ही पाया था।* इस असफलता के बाद भी देश में समय-समय पर शासन के प्रति विद्रोह की भावनाओं का परिचय मिलता रहा; पर अब कोई सङ्गठित दल ऐसा नहीं रहा, जो विदेशी सत्ता का भली प्रकार सामना करे। उस समय के समाज-सङ्गठन के अनुसार दो ही विचार-धाराएँ प्रमुख थीं;—(१) सशस्त्र युद्ध (हथियारों से लड़ना) और (२) पराधीनता या गुलामी स्वीकार करना। युद्ध राजाओं, सामन्तों और जागीरदारों के झंडे के नीचे ही हो सकता था, उनकी नाकामयाबी के बाद राजनैतिक अवस्था ऐसी हो गयी, कि हमने विदेशी राज्य को स्वीकार सा कर लिया, और उसके अनुसार अपने-आपको ढालने का काम शुरू कर दिया। हाँ, जब कभी कोई बात विशेष कष्टदायक या अपमानजनक मालूम हुई तो उसके 'सुधार' करने की, कुछ सुविधाएँ प्राप्त करने की, कोशिश की गयी। इस तरह क्रान्ति की बात पीछे पड़ गयी, और मैदान विधानवाद (कानूनी या कागजी कार्रवाई) का समर्थन करने वालों के हाथ रह गया।

कांग्रेस और राष्ट्रीयता—ऐसे ही विचारों का यह नतीजा था कि दूसरी संस्थाओं के अलावा यहाँ सन् १८८५ में कांग्रेस या राष्ट्र-सभा का जन्म हुआ। इसके संचालक या कर्ताकर्ता विधानवादी थे। क्रांतिकारी भावना या कार्यक्रम उनके पास जरा भी न था। शुरू में कांग्रेस मुट्ठी-भर आदमियों की संस्था थी, लेकिन धीरे धीरे इसका संगठन नगर-नगर और गाँव-गाँव में हो गया। अब यह जनता की

*इस असफलता का एक खास कारण यह था कि हालांकि इस युद्ध में हिस्सा लेने वाले दल यह अवश्य चाहते थे कि भारत से अंगरेजी सत्ता हटा दी जाय, उनके अन्तिम ध्येय में समता नहीं थी, कोई दल कुछ चाहता था, कोई कुछ। सब दलों में, जैसा चाहिए, सहयोग न था।

संस्था है। इसकी विशेषता यह है कि इसने भारतीयों के सामने आज़ादी हासिल करने का सवाल रखा, जो राष्ट्रीयता के भाव बढ़ाने और मज़बूत करने का सबसे बड़ा साधन होता है। कांग्रेस ने देश की आजादी या स्वतंत्रता के आन्दोलन का संचालन करके भारतवर्ष के दूर-दूर रहनेवाले आदमियों के, प्रान्तीयता के अनुदार भाव को हटाने की कोशिश की है और यहाँ रहनेवाली जातियों के आदमियों को साम्प्रदायिक विचारों से ऊपर उठने की प्रेरणा की है। जैसे-जैसे कांग्रेस की आयु तथा शक्ति बढ़ी है, उसके द्वारा जनता में भारतीयता की भावना पैदा करने का आन्दोलन ज्यादह जोरदार होता रहा है।

इसमें शक नहीं, अभी लक्ष्य प्राप्त होने में बहुत कमी है। कितनी ही साम्प्रदायिक संस्थाएँ कांग्रेस का विरोध करके अपना अलग-अलग राग अलापती रहती हैं। देशी राजा, नवाब तथा जमींदार ही नहीं, कहीं-कहीं तो किसान या मजदूर तक भी अपना अलग झंडा फहराते हैं। यहाँ ही जन्मे हुए, भारतीय कहे जाने-वाले पुलिस-कर्मचारी जनता को निर्दोष या बेगुनाह जानते हुए भी उस पर लाठी-वर्षा करने आदि में कुछ संकोच नहीं करते। 'भारतीय' सिपाहियों का उपयोग भारतीय जनता के खिलाफ किया जा सकता है। जब कि हजारों युवक और महिलाएँ देश-सेवा के लिए जेल आदि मुसीबतें सहती हैं, कुछ ऐसे अभागे भी मौजूद हैं जो अधिकारियों की हाँ-हजूरी करने में और उनकी, या उन्हें दी जानेवाली, पार्टियों अर्थात् दावतों आदि में शामिल होने में संकोच नहीं करते। ये घटनाएँ इस बात की दुखदायी और शर्मनाक सबूत हैं कि देश में राष्ट्रीयता का विकास काफी नहीं हुआ है; नहीं तो कोई भी आदमी, किसी भी

प्रान्त, वर्ग या जाति का ऐसा नहीं मिलना चाहिए जो अपने स्वार्थ या खुदगर्जी के लिए राष्ट्र-विरोधी कार्य करे। जो हो, निराशा की बात नहीं; हालांकि समय-समय पर हमारी प्रगति रुकी हुई मालूम पड़ी है, व्यापक दृष्टि से देखें तो यहाँ राष्ट्रीयता बराबर बढ़ती जा रही है। ज्यों-ज्यों स्वाधीनता प्राप्त करने में हम सफल होते जायंगे, राजनैतिक एकता तथा राष्ट्रीयता का बढ़ना स्वाभाविक है। इस विषय में खुलासा आगे लिखा जायगा।
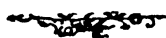
तीसरा परिच्छेद
राष्ट्रीयता के साधन

देश के सब निवासी देश से हित रखें, और अपने देश के विरुद्ध विदेशियों से मिलना पाप समझें तो जुदी जुदी-जाति, धर्म और भाषा के रखनेवाले भी एक राष्ट्र कहला सकते हैं। —*प्रो० बालकृष्ण शर्मा*

पिछले परिच्छेदों में इस बात का विचार किया गया है कि राष्ट्र कैसे बनता है, और भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का कहाँ तक विकास हुआ है। यह भी जान लेना आवश्यक है कि राष्ट्रीयता में मदद देने वाले साधन क्या-क्या होते हैं, और भारतवर्ष में उनकी दशा कैसी है। मिसाल के तौर पर भौगोलिक विचार से यह देश कैसा है, यहाँ भाषा, धर्म, जाति और संस्कृति अलग-अलग हैं, या उनमें एकता की भावना है; शासन का प्रभाव कैसा पड़ रहा है।

भौगोलिक स्थिति—मनुष्य पर भौगोलिक यानी जमीन सम्बन्धी बातों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। कुछ समय पहले योरपीय

समाजशास्त्रियों का एक दल मनुष्यों के विविध गुण-दोषों, उनके स्वभाव, रहन-सहन, खान-पान, जरूरतों, संस्थाओं, आन्दोलनों तथा इतिहास आदि का एकमात्र कारण भौगोलिक स्थिति मानता था। अब इस सिद्धान्त का खण्डन हो चुका है, तथा आमदरफ़्त के साधनों की वृद्धि ने भौगोलिक स्थिति का महत्व पहले से कम कर दिया है, तो भी ज़मीन के किसी हिस्से को एक देश मानने के लिए उसकी भौगोलिक एकता का विचार करना जरूरी है।

संसार में कितने ही राष्ट्र ऐसे हैं, जिनकी कोई कुदरती हद नहीं है; वे दीवार आदि की बनावटी सीमा द्वारा अपने पास के राष्ट्रों से अलग किये गये हैं; उस सीमा के सम्बन्ध में अकसर झगड़ा या वाद-विवाद होता रहता है। भारतवर्ष में ऐसा नहीं है। यहाँ उत्तर में हिमालय की दुर्गम, ऊँची और विशाल दीवार प्रकृति ने ही खड़ी कर रखी है, और इस देश के बाकी तीन ओर हिन्द महासागर होने से जल ही जल है। सिर्फ पश्चिम की ओर एक छोटा सा रास्ता पर्वत-मालाओं के बीच में से है; प्राचीन समय में जो विदेशी यहाँ आये, वे इसी रास्ते से होकर आ सके थे। इस तरह भौगोलिक दृष्टि से अठारह लाख वर्ग मील के क्षेत्रफल वाली, उनतालीस करोड़ आदमियों की, उस निवास-भूमि के एक देश होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता, जिसकी लम्बाई चौड़ाई अठारह-अठारह सौ मील के लगभग है। भारतवर्ष के इस क्षेत्र में कुछ बड़ी-बड़ी नदियाँ और पहाड़ियाँ जरूर हैं, लेकिन सभ्यता की वृद्धि, और आमदरफ़्त के साधनों की उन्नति के समय में इनसे देश की एकता में बाधा नहीं पहुँचती।

भाषा—राष्ट्रीयता की दृष्टि से भाषा की एकता का महत्व साफ ज़ाहिर है। जो लोग हमारी भाषा ही नहीं समझते, वे हमसे भौगोलिक

सम्बन्ध या रिश्तेदारी रखते हुए भी हमारे सुख-दुख में क्या साथ दे सकते हैं! वे तो हमें पराये ही मालूम होंगे। एक ही भाषा बोलने वालों में विचार-विनिमय की, यानी एक दूसरे के विचार जानने की सुविधा होती है, और उनमें धीरे धीरे विचारों की एकता हो जाती है। और, संसार में, खासकर प्रजातंत्र युग में विचारों का ही राज्य होता है।

कुछ पश्चिमी तथा कई भारतीय लेखक यहाँ की भाषा की अनेकता के रोग को बहुत भयंकर बतलाकर कहने लगते हैं कि भारतवर्ष एक राष्ट्र न पहले कभी बना, न अब है. और न आगे ही कभी हो सकता है। हमें उनकी अत्युक्ति, निराशा और अनुदार दृष्टि पर दया आती है। योरप में कई ऐसे राष्ट्र मौजूद हैं, जिनमें एक से अधिक भाषाएँ प्रचलित हैं। मिसाल के तौर पर स्विटजरलैंड के प्रजातंत्रीय राष्ट्र की पार्लिमेंट के मेम्बर तीन भाषाओं में से चाहे जिसका व्यवहार कर सकते हैं, फ्रांस का राष्ट्र तीन भाषाओं से कम में काम नहीं चलाता रहा। अमरीका के संयुक्तराज्यों की सी जुदा-जुदा भाषाएँ तो शायद किसी भी देश में नहीं, तो भी वे एक राष्ट्र और मजबूत राष्ट्र माने जाते हैं। ब्रिटेन की अंगरेजी, वेल्श और स्काच भाषाओं में वैसा ही भेद है, जैसा भारतवर्ष की दो प्रान्तीय भाषाओं में है, तो भी उसकी राष्ट्रीयता को कोई अस्वीकार नहीं करता।

अब भारतवर्ष की बात लीजिए। प्राचीन समय में चिरकाल तक संस्कृत यहाँ की देश-भाषा रही। अब भी यह देश भर के हिन्दुओं की धार्मिक भाषा है, और पूजा-पाठ, तथा धर्म और वैद्यक आदि के पढ़ने पढ़ाने के काम में आती है। बीच में सारे देश की कोई एक प्रधान भाषा न रही; हरेक प्रान्त की भाषा जुदा जुदा हो गयी।

लेकिन लेखकों की यह समझ ठीक नहीं है कि भारतवर्ष में सैकड़ों भाषाएँ हैं, क्योंकि ऐसा समझने में भाषा और बोली का फ़रक भुला दिया गया है, और सब को भाषा ही मान कर उनकी संख्या अनगिनत कर दी गयी है। असल में यहाँ की भाषाएँ अंगुलियों पर गिनी जा सकती हैं। उनमें से मुख्य ये हैं - हिन्दी या उर्दू (जिसके सरल रूप को हिन्दुस्तानी भी कहते हैं), बंगला, मराठी, गुजराती, कन्नड़. मलयलम, तामिल और तेलगू। शेष सब इन्हीं में से किसी-न-किसी के अन्तर्गत बोलियाँ हैं, जिनकी संख्या लोगों के आपसी सम्बन्ध तथा सभ्यता बढ़ने के साथ घटती जा रही है। इन भाषाओं में से कई एक, संस्कृत से गहरा सम्बन्ध रखती हैं और इसलिए एक-दूसरे से थोड़ी-बहुत मिलती है। फिर, इन भाषाओं में भी हिन्दी ऐसी है, जो बिहारी, राजस्थानी, पंजाबी, आदि अपनी बोलियाँ सहित भारतवर्ष के हर सात आदमियों में से तीन की मातृभाषा है, जिसे वे दिन-रात बोलते हैं। 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' के उद्योग से मद्रास आदि में भी हिन्दी का प्रचार बढ़ता जा रहा है। और, राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति की कोशिश से दूसरे अहिन्दी प्रान्तों में अब हिन्दी बोलने और समझनेवाले आदमी जगह जगह मिल जाते हैं, और तीन-चौथाई से अधिक भारतवासी हिन्दी समझ सकते हैं। हर प्रान्त से हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं। इस भाषा में भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा होने की योग्यता में कोई सन्देह नहीं है।

लिपि—पढ़े-लिखे आदमियों के विचार एक-दूसरे को भली-भाँति मालूम होने के लिए, एक भाषा के अलावा एक ही लिपि की आवश्यकता हुआ करती है। लिपि में खास तौर से ये गुण देखे जाते

हैं—(१) सौंदर्य या खूबसूरती (२) शीघ्र-लेखन या जल्दी लिखना (३) निश्चय अर्थात् जो लिखा जाय, वही पढ़ा जाय; उसमें शंका न हो। इस विचार से, भारतवर्ष भर की (एवं संसार के विविध देशों की) प्रचलित लिपियों में देवनागरी सब से अच्छी है। जैसे कुछ आदमी अपनी प्रान्तीय लिपि का पक्षपात करते हैं, कुछ मुसलमान आदि फारसी लिपि का समर्थन करते हैं। यह देख कर कुछ सज्जन यहाँ रोमन लिपि के प्रचार की बात उठाया करते हैं। परन्तु इसमें कुछ सार नहीं है। इसका विशेष विचार आगे किया जायगा।

धर्म या मत—इस सम्बन्ध में पहले तो यही विचार करने की बात है कि किसी देश की एकता के लिए धार्मिक विश्वासों की एकता कहाँ तक अनिवार्य या लाज़मी है। योरपीय देशों के इतिहास में एक समय था, जब एक ईसाई सम्प्रदाय की स्त्री का विवाह उसी सम्प्रदाय के पुरुष से होता था, वह ईसाई मत के भी दूसरे सम्प्रदाय के पुरुष के साथ नहीं रह सकती थी रोमन-केथलिक ईसाई, प्रोटेस्टैंटों के खून के प्यासे थे; और, प्रोटेस्टैंट ऐसे अवसर की खोज में रहते थे, जब वे रोमन-केथलिकों को नेस्तनाबूद कर दें। उस समय वहाँ यह सिद्धान्त माना जाता था कि एक देश में एक ही धर्म के आदमी रहें तो उसकी एकता मज़बूत होगी। लेकिन अब समय ने उन देशों को अधिक सहनशील बना दिया है। जुदा-जुदा धर्मों में विश्वास रखने वाले आदमी भी एक देश में आम तौर पर सुख-चैन से रह सकते हैं।

भारतवर्ष में धार्मिक सहनशीलता सदा से रही है। यहाँ कभी ऐसी रोमांचकारी बातें देखने में नहीं आयीं, जिनसे ईसाई देशों के इतिहास भरे पड़े हैं। भारतवर्ष में हिन्दू बौद्ध और पारसी साथ-साथ

रहे हैं। मुसलमानों की हुकूमत में भी यहाँ इतना भेद-भाव नहीं रहा, जितना स्वार्थी इतिहास-लेखकों ने सिद्ध करने की कोशिश की है। इने-गिने बादशाहों या उनके कुछ कट्टर आदमियों के दुराग्रह के अलावा जनता में कोई विशेष धार्मिक झगड़ा नहीं हुआ। हिन्दू-मुसलमान जन-साधारण यहाँ उस समय तक बराबर प्रेम से रहे, जब तक कि योरपियनों ने अपनी ताकत बढ़ाने या अपने पैर जमाने के लिए उनमें फूट न डाली। अस्तु. अब दोनों ही धर्म वालों में हर प्रकार के विचारवाले आदमी हैं। दोनों में मूर्तिपूजक हैं, और मूर्ति-विरोधी भी; भाग्यवादी हैं, और कर्मवादी भी। बंगाल और बिहार के कितने ही मुसलमान, ब्राह्मणों के द्वारा, हिन्दू-मन्दिरों में पूजा करवाते हैं। इसी तरह बहुत से हिन्दू, मुसलमानों के मकबरों और ताजियों पर शीरनी ही नहीं चढ़ाते, ताजिये भी रखते और मनौतियाँ भी करते हैं। इन बातों का ज्यादह ब्योरा देने की ज़रूरत नहीं। हम यह समझने लग गये हैं कि बाहरी मत-भेद व्यर्थ या फ़जूल हैं; धर्म के मूल तत्व अब राष्ट्रीय कर्त्तव्य का स्वरूप धारण कर रहे हैं।

रीति-रस्म और रहन-सहन—यदि किसी देश के आदमियों में रीति-नीति या आचार-व्यवहार जुदा जुदा हों तो ज्यादह चिन्ता की बात नहीं। ऐसा कौनसा राष्ट्र है, जिसमें ये बिलकुल एक समान हों! यह बात अमल में नहीं आ सकती और जरूरी भी नहीं कि करोड़ों आदमी एक ही तरह की रीति-रस्म बर्तें। थोड़ी सी भिन्नता तो सुन्दर तथा उपयोगी ही होती है। फिर, दूसरे देशों के मुकाबिले, भारतवर्ष की रीति-रस्मों में अधिक समानता है। विवाह-शादी, जन्म-मरण, रहन-सहन, तीज-त्योहार आदि की खास-खास बातों में आम तौर पर एकता ही है।

श्री० पण्डित सुन्दरलाल जी ने मदरास में, अपने दीक्षान्त भाषण में कहा था—"कम से कम उत्तर भारत में हर हिन्दू शादी के समय 'नौशाह' बनता है। हिन्दू की शादी बिना सेहरे और जामे के नहीं होती, और करोड़ो मुसलमानों की शादी बिना कंगन के। सेहरा और जामा मुसलमानी हैं, और कंगना हिन्दू। मुझे नहीं मालूम, भारत भर में कितने मुसलमान घर मिलेंगे, जिनमें लड़कों और लड़कियों का कंछेदन और नकछेदन नहीं होता। दोनों रिवाज हिन्दू हैं, जिनका इसलाम से कोई सम्बन्ध नहीं। मुझे इन मिसालों को बढ़ाने की जरूरत नहीं है। इस तरह की छोटी-छोटी बातों में यदि हम ईमानदारी से देखें तो अनेक बातों में एक पेशावर के हिन्दू और एक मदरास के हिन्दू में कहीं अधिक अन्तर है, बनिस्बत एक पेशावर के हिन्दू और पेशावर के मुसलमान में।"

पहनावे की बात लीजिए। साधारण हिन्दू और मुसलमानों में—पुरुष हों या स्त्री—उनकी पोशाक से कोई साफ भेद नजर नहीं आता। कुछ मुसलमानों ने अपनी समाज में, टर्किश केप और तहमत का विशेष प्रचार करना चाहा। पर उन्हें इसमें सफलता न मिली। साधारण तौर से मुसलमान जिस प्रान्त में रहते हैं, वहाँ की ही पोशाक पहनते हैं। पहले यहाँ ज्यादहतर ईसाई ही टोप लगाते थे; अब बहुत से हिन्दू और मुसलमान भी लगाते हैं। गाँधी टोपी को सर्व-साधारण ने अपना लिया है। इस प्रकार पोशाक से इतना भेद-भाव और अलहदगी का ही नहीं, जितना एकता का परिचय मिल रहा है।

जातियाँ—एक ही पूर्वजों की सन्तान की शारीरिक बनावट, शक्लसूरत, हाव-भाव और विचारों में बहुत-कुछ समानता अथवा एकता होती है, खासकर उस समय जबकि वे बहुत मुद्दत तक एक ही जगह रहती रही हों। प्राचीन काल में प्रत्येक जाति विवाह सम्बन्धी कठोर नियम जारी करके अपना रक्त शुद्ध रखने, और इस प्रकार

अपनी अलहदगी बनायी रखने, की बड़ी कोशिश करती थी। मिसाल के तौर पर भारतीय आर्यों में अभी तक भी इसका बहुत विचार रहता है। लेकिन ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, इसमें अन्तर आता गया; आमदरफ़्त की सुविधाओं ने भी विविध जातियों की मिलावट में मदद दी। अब कोई जाति बिलकुल शुद्ध रक्त का अभिमान नहीं कर सकती।

पुराने जमाने में एक जाति के आदमी अकसर साथ-साथ एक ही देश में रहते थे, पीछे वे अपनी तरह तरह की जरूरतों के कारण, अलग-अलग देशों से सम्बन्ध बढ़ाने तथा उनमें रहने लगे। आज-कल तो हरेक देश में कई-कई जातियों के आदमी मिलते हैं, और कोई देश केवल एक ही जाति का निवास-स्थान होने का दावा नहीं कर सकता; हाँ, बहुत से देशों में एक-एक जाति की प्रधानता ज़रूर है। जो हो, कई जातियों के होने से किसी देश की एकता में बाधा पड़ना ज़रूरी नहीं है। उन्नत देशों में प्रत्येक जाति अपने निजी व्यवहार में स्वाधीन रहती है, और जब पूरे देश का सवाल आता है, अथवा राजनैतिक विषय पेश होते हैं, तो सब आपस में मिलकर उसमें योग देती हैं।

अब इस सम्बन्ध में भारतवर्ष की स्थिति का विचार करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि बीच में यहाँ हिन्दुओं के वर्णविभाग की अवस्था बहुत अस्त-व्यस्त हो गयी, एक जाति में अनेक उपजातियाँ, और एक-एक उपजाति के अनेक छोटे-छोटे भाग बन गये। तो भी हताश होने की बात नहीं है। कई वर्षों से ब्राह्मण सभा, क्षत्री सभा, वैश्य सभा, आदि अपनी-अपनी जाति के अन्तर्गत उपजातियों को एक बड़े सूत्र में संगठित करने की कोशिश कर रही हैं। जाति-पांति तोड़ने के

पक्षवालों की भी संख्या धीरे-धीरे बढ़ रही है। हाँ, इस दिशा में अभी काफी प्रगति नहीं हो रही है।

असल में भारतवर्ष में दो ही जातियाँ प्रधान हैं—आर्य और द्राविड़; इनके अलावा यहाँ कुछ ईरानी और मंगोलियन मिलावट है।* भारतवर्ष जैसे महान, फैले हुए, और पुराने देश में इतना-सा जाति भेद कुछ ज्यादह नहीं है।

योरप अमरीका आदि राष्ट्रों में, जो भारतवर्ष के साधारण प्रान्तों के समान हैं, जाति-भेद कहीं अधिक है। कनाड़ा में अंगरेज और फ्रांसीसी अपना पुराना भेद-भाव नहीं भूले हैं। अमरीका के संयुक्तराज्य में तो दुनिया भर की, खासकर योरप की, विविध जातियों के आदमियों ने अपना घर बनाया है, फिर भी वह राष्ट्रीयता में अपना सिर ऊँचा किये हुए है। स्विटजरलैंड एक बहुत छोटा-सा देश है, फिर भी उसकी जनता कई जातियों की बनी हुई है। खुद ग्रेट-ब्रिटेन (इंगलैंड और स्काटलैंड) एक मामूली टापू है, पर उसके निवासियों के पूर्वज अलग-अलग जातियों के थे। दक्षिण अफ्रीका में बोअरों और अंगरेजों का युद्ध अभी कल की बात है। फिर भी कोई इन देशों की राष्ट्रीयता में संदेह नहीं कर सकता। निदान, भारतवर्ष की जाति सम्बन्धी स्थिति, राष्ट्रीयता के विचार से, असंतोषप्रद नहीं है।

संस्कृति—एकता के सम्बन्ध में संस्कृति या सभ्यता का विषय बहुत महत्व का होता है। संस्कृति के दो रूप होते हैं, बाहरी और भीतरी। बाहरी संस्कृति का सम्बन्ध भाषा, खान-पान, रीति 'रस्म,

* ज़्यादहतर मुसलमान भारतीय आर्यों के ही वंश के हैं, बाहर से तो बहुत ही थोड़े आदमी आये थे; स्त्रियाँ तो आयी ही नहीं; पुरुषों का अकसर यहाँ वालों से रक्त-सम्बन्ध या रिश्तेदारी हो गयी।

ब्याह-शादी आदि से होता है; और भीतरी संस्कृति का, धार्मिक और आध्यात्मिक विचारों से। भारतवर्ष के भील संथाल आदि पहाड़ी अथवा जंगली आदमियों को छोड़कर, जिनकी संख्या कुल देश की जनता का बहुत ही थोड़ा हिस्सा है, दूसरी जातियों के आदमियों की संस्कृति में, उनके हजारों वर्षों के पारस्परिक मेलजोल और संग साथ के कारण अजीब एकता आगयी है। आमदरफ्त के साधनों की वृद्धि ने भी इसमें बड़ी सहायता की है। दक्षिण के द्राविड़ों ने आर्यों की वर्णा-श्रम आदि प्रथाओं को स्वयं आर्यो से भी अधिक अपनालिया है। और, वे अब मानो आर्य ही बन गये हैं।

कुछ आदमी हिन्दू-मुसलमानों की संस्कृति अलग अलग होने पर बहुत जोर दिया करते हैं, पर उनकी बात बहुत बढ़ा-चढ़ा कर कही हुई होती है, जैसा कि रीति-रस्म या रहन-सहन आदि के सम्बन्ध में ऊपर के कथन से जाहिर है। यह ठीक है कि शुरू में मुसल-मानों का बहुत सम्बन्ध अरब की संस्कृति से था, और हिन्दूओं का आर्य संस्कृति से। लेकिन मुसलमानों के यहाँ आकर बस जाने और सैकड़ों वर्ष हिन्दुओं के साथ मिल-जुलकर रहने से इन दोनों जातियों की संस्कृतियों की एक-दूसरे पर गहरी छाप पड़ती गयी, और दोनों संस्कृतियों के मेल से एक नयी संस्कृति बनने लगी। अंगरेजों के यहाँ आने के समय तक संयुक्त संस्कृति की जड़ मजबूत नहीं जमी थी, इसलिए वह अंगरेजों की (पाश्चात्य) संस्कृति की टक्कर को सहन न कर सकी; और हिन्दू और मुसलमान दोनों अपने जुदा-जुदा आदर्शों को खोजने लग गये। फिर, अंगरेज शासकों की कूटनीति से यहाँ फरक बढ़ता गया। अब न तो शुद्ध रूप में हिन्दुओं की आर्य संस्कृति ही वापिस आ सकती है, और न मुसलमानों की

अरबी संस्कृति ही। हिन्दू मुसलमान दोनों की बहुत-कुछ एक ही संस्कृति होगी, वह होगी, भारतीय या हिन्दुस्तानी संस्कृति।

भारतवर्ष में सर्वसाधारण जनता तो गाँवों में रहती है, और वहाँ हिन्दुओं के त्योहार मुसलमान, और मुसलमानों के त्योहार हिन्दू, खुशी से मनाते हैं। रक्षा-बन्धन के दिन मुसलमान लड़कियाँ हिन्दुओं के पोंहची बाँधती हैं। दिवाली के दिन बहुत से मुसलमान भी अपने-अपने घरों पर रोशनी करते हैं। बालक बड़ी उम्र वालों को, चाहे वे किसी जाति के हों, चाचा, ताऊ या बाबा आदि कहते हैं। इस प्रकार ग्राम-जीवन हमारी एकता का जीता जागता सबूत है। और, ग्राम-निवासी हिन्दुओं और मुसलमानों की संस्कृति में विशेष अन्तर नहीं है। जो अन्तर दिखाई देता है, वह अकसर नगर-निवासियों में है, जिनकी संख्या दस फीसदी से अधिक नहीं है। कालान्तर में इनकी संस्कृति में भी बहुत कुछ समन्वय या मेल हो जागया; और न भी हो तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। कितने ही देशों में कई-कई संस्कृतियों के आदमी हैं। इस तरह संस्कृति के आधार पर भारतवर्ष के राष्ट्र-निर्माण में सन्देह करना भारी भ्रम है।

अखिल बंगाल कृषक प्रजा समिति के अध्यक्ष मि० सैयद हबीबुर्रहमान का कथन है कि:—"जब मुसलमान भारत में आये तो उन्होंने इसे अपना देश मान लिया। उन्होंने एक राष्ट्र बनाया और उर्दू तथा हिन्दी के रूप में एक भारतीय राष्ट्रभाषा का निर्माण किया।......हिन्दुओं और मुसलमानों के मेल से एक नयी संस्कृति तथा एक नयी सभ्यता पैदा हो गयी। बहुत कम ऐसी चीज़ें होंगी जो दोनों जातियों में समान रूप से न प्रचलित हों। भारत के ज्यादहतर मुसलमानों में असल में हिन्दुओं की ही हड्डियाँ हैं। राष्ट्र को जातियों के ऊपर मानना होगा।"

राजनैतिक एकता—राष्ट्रीयता के लिये एक राज्य का होना

बहुत उपयोगी होता है। यदि किसी देश के अलग-अलग हिस्सों में जुदा-जुदा शासन या हुकूमतें हों तो उसके निवासियों में राजनैतिक विषयों में एकता की भावना जागृत नहीं होती, वे हरेक बात को तंग प्रान्तीय विचार से देखते हैं; और इसलिए उनका राष्ट्र-निर्माण का मार्ग साफ नहीं होता।

भारतवर्ष में, प्राचीन काल में चक्रवर्ती शासनपद्धति थी। चक्रवर्ती सम्राट् सबसे ऊपर माना जाता था, वैसे प्रत्येक राज्य अपना भीतरी प्रबन्ध करने में स्वतन्त्र रहता था। धीरे धीरे इस स्थिति में परिवर्तन हुआ। ईसा से दो-तीन सदी पहले यहाँ कई बड़े-बड़े साम्राज्य बनने लगे। अब से सवा दो हजार वर्ष पहले अशोक के समय में, भारतवासियों ने एक विशाल भारतीय राज्य का निर्माण किया, जिसे संसार की उस समय की राजनीति में बेमिसाल समझा जाता है। पीछे सम्राट् अकबर ने इस देश को बहुत-कुछ राजनैतिक एकता प्रदान की. परन्तु अठारहवीं सदी में उसके उत्तराधिकारियों या वारिसों की त्रुटियों के कारण, यहाँ जुदा-जुदा ताकतों ने जोर पकड़ा और राजनैतिक फूट के कारण उस शताब्दी के पिछले हिस्से से यहाँ अंगरेजों के पाँव जमने लगे।

अंगरेजों के शासन से भारतवर्ष को जो नुकसान हुआ, वह अब खुला रहस्य है, पर यह भी स्वीकार किया जाना चाहिए कि उनकी अधीनता में गौण रूप से भारतवर्ष की राजनैतिक एकता बढ़ी है। देश में रेल तार डाक आदि की व्यवस्था होने से आमदरफ्त, सम्पर्क और पत्र-व्यवहार आदि बढ़ा।* अंगरेजी भाषा का प्रचार होने से

*रेलों के प्रचार में शासकों का खास उद्देश्य सैनिक सुविधा तथा देश पर अपना अधिकार बनाये रखने की भावना थी। यदि अंगरेज यहाँ न आते तो भी इस जमाने में रेल आदि का प्रचार यहाँ हो जाता, जैसा कि जापान आदि देशों में हुआ है।

अलग-अलग प्रान्तों के विद्वानों को एक-दूसरे के विचार जानने की सुविधा होने की बात पहले कही जा चुकी है।† फिर अंगरेजों के शासन में राजनीति का अमल हर जगह एक सा होने लगा, दासता में सब की समानता हो गयी। समान परतंत्रता को हटाने के लिए संगठित आन्दोलन होने लगा; सब प्रान्तों तथा समस्त जातियों और श्रेणियों के आदमी अपने आपसी भेद-भावों को भुलाकर राजनैतिक एकता और स्वाधीनता प्राप्त करने लगे इसका विशेष विचार आगे किया जायगा।

दूसरी बातें—राष्ट्रीयता को बढ़ानेवाली एक बात जनता के हानि-लाभ की समानता है। जो आदमी एक देश में रहते हों, जिनके धर्म, भाषा, जाति और संस्कृति आदि में बहुत-कुछ समानता या मेल हो गया हो, जिनका शासन एक ही पद्धति से एक ही समुदाय द्वारा होता हो, उनके स्वार्थ तथा हानि लाभ एक ही हो जाते हैं। इस लिए इसका पृथक् महत्व नहीं है।

इस तरह विविध दृष्टियों से विचार करके हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि भारतवर्ष को एक देश समझना कोई भूल नहीं है। निकट भविष्य में इसे एक राष्ट्र कहना और भी अधिक सत्य होता जायगा। क्या यह शुभ लक्षण नहीं है कि उन सज्जनों की संख्या बराबर बढ़ती जा रही है, जो तंगदिली को छोड़ कर अपने को मरहठा, बंगाली या गुजराती आदि पीछे कहते हैं, और पहले अपने को भारतीय समझने में ही गौरव मानते हैं! पिछली गलतियों का

† अंगरेजी शिक्षा का मूल उद्देश्य तो सरकार को सस्ते क्लर्क आदि मिलने के अलावा यह था कि भारतवासियों की एक ऐसी श्रेणी तैयार हो जाय जिसके आदमी रक्त और रंग में भारतीय ही रहें, परन्तु रुचि, विचार, भाषा और भावों में पूरे अंगरेज हों।'

सुधार करने वाला ऐतिहासिक साहित्य लिखा जाना शुरू हो गया है, और उजले भविष्य की आशा हम सब को एक सूत्र में बाँधती जा रही है। अब भारतीयता के प्रेम से सुगठित हो हम विशाल मातृभूमि की सेवा करने में ही अपना कल्याण समझा करेंगे।

भारतवर्ष की एकता; शंका-समाधान—प्रायः विदेशी अधिकारी तथा उनके अनुयायी समय-समय पर भारतवर्ष की अनेकता की घोषणा करते रहते हैं। इसमें सत्य कम, और उनका स्वार्थ तथा राजनैतिक प्रचार अधिक होता है। भाषा, संस्कृति, जाति, धर्म आदि के के विचार से ऊपर किये हुए विवेचन से यह स्पष्ट है कि यहाँ एकता के किसी साधन की कमी नहीं है; यों थोड़ी बहुत विभिन्नता या भेदभाव अवश्य है, पर ऐसा तो सभी देशों में होता है, और, जब बहुत से देशों में इसके होते हुए भी वहाँ राष्ट्र-निर्माण का कार्य भली भांति हो गया है, तो भारतवर्ष में क्यों न होगा!

"इटली के साथ भारतवर्ष की कई बातों में समता है। एशिया के नक्शे में जैसा भारतवर्ष है, योरप के नक्शे में वैसा ही इटली है। दोनों ही देशों के दक्षिण भाग समुद्र की ओर जाकर खतम होते हैं। दोनों के उत्तर में अटल अचल पहाड़ प्रकृति की अनुपम शोभा बढ़ा रहे हैं। दोनों ही के मध्य भागों में सुन्दर स्वच्छ जल की नदियाँ कलकल नाद करती हुई बहती हैं। बिना यत्न के सौन्दर्य और सम्पत्ति से, दोनों ही विभूषित हैं। इस के अलावा भारतवर्ष की भाँति इटली भी बहुत से छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ है। बहुत सदियों तक दोनों ही देश आक्रमणकारियों के पराक्रम से दुखी और पराजित हो स्वाधीनता से वंचित रहे। दोनों ही देशों में जुदी-जुदी भाषा बोलनेवाले मनुष्य रहते हैं। भारतवासियों की भाँति इटलीवासी भी अपना प्राचीन गौरव खो बैठे थे। वे एक ही पूर्वजों से उत्पन्न, एक भाईचारे के सूत्र में बँधे, और एक ही प्रकार के गौरव से गौरवान्वित होने पर भी, एक दूसरे को विदेशी समझते थे। तब भी इटली के एक प्रान्त के दूसरे

प्रान्त तक समवेदना की लहर दौड़ जाती है; इटली में अपूर्व जातीय भाव से एकता की पताका ऐसी लहराने लगती है, मानो कभी गिरी ही न थी। इसी तरह स्विटजरलैंड और बेलजियम भी अलग अलग भाषा बोलने वाले और जुदा-जुदा धर्मावलम्बी लोगों के निवास-स्थान होने पर भी, एकता के सुन्दर डोरे में बँधे हैं। भारतवर्ष में अनेक विषयों में विषमता रहने पर भी भीतर समता का बीज भरा पड़ा है।" [श्री० रामदेव जी त्रिपाठी द्वारा अनुवादित श्री रजनीकान्त गुप्त के 'हमारा जातीय भाव' लेख के आधार पर।]

भारतवर्ष में प्राचीन काल से एकता रही है, और अब पिछली सदियों के, पराधीनता से होने वाले, अस्थायी विकारों को हटाकर यह एक बलवान राष्ट्र बनता जा रहा है, जो किसी जाति विशेष या प्रान्त विशेष के नामवाला न होगा; वरन्, मातृभूमि भारत भर से सम्बन्ध रखने के कारण, भारतीय राष्ट्र के शुभ नाम से पुकारा जायगा। लेकिन हमें इसके दर्शन करने के लिए, पूर्ण विश्वास और आशा बनाये रखनी चाहिए; कष्टों की परवाह न करते हुए, धीरज से लगातार राष्ट्र-निर्माण का कार्य करते रहना चाहिए; सफलता निश्चित है।

चौथा परिच्छेद

राष्ट्र-बल

[जनसंख्या, स्वास्थ्य-रक्षा और सदाचार]

"यदि धन गया तो कुछ नहीं गया, यदि स्वास्थ्य गया तो कुछ गया, यदि सदाचार गया तो सब कुछ गया।" —*एक अंगरेजी कहावत*

जनसंख्या

जनसंख्या या आबादी के विचार से भारतवर्ष एक महान राष्ट्र है।

संसार भर में, केवल चीन को छोड़ कर कोई दूसरा देश ऐसा नहीं है, जिसकी जनसंख्या भारत से अधिक हो। यह ठीक है कि जापान, जर्मनी और इंगलैंड आदि कुछ देशों की तुलना में, क्षेत्रफल के विचार से यहाँ फी वर्गमील कम आदमी रहते हैं, पर वे देश स्वाधीन हैं, और, उद्योग और कलाकौशल प्रधान हैं। वे अपना तैयार माल अपने अधीन देशों या प्रभाव-क्षेत्रों में खपाकर खाने पीने का सामान बहुत ऊंचे भाव से भी खरीद सकते हैं। यदि उनके यहाँ काफी पैदा न हो तो उन्हें भूखे मरने की नौबत नहीं आती। इसके खिलाफ, भारतवर्ष राज-नैतिक और आर्थिक पराधीनता में फँसा है। यहाँ के गरीब किसान अकसर अपनी उस पैदावार में से भी कुछ हिस्सा विदेशों के धनी व्यापारियों के हाथ बेच देने को मजबूर होते हैं, जिसकी उन्हें खुद अपने निर्वाह के लिए जरूरत होती है।

यहाँ, देश की पैदावार बढ़ाने की ओर कुछ ध्यान दिया जा रहा है, पर भारतवर्ष की जनसंख्या कम नहीं कही जा सकती। सन् १९४१ ई० की मनुष्य-गणना के अनुसार भारतवर्ष की (जिसमें अब बर्मा नहीं गिना जाता), आबादी उनतालीस करोड़ है। यहाँ दूसरे कई देशों से मृत्यु-संख्या अधिक है, लेकिन जन्मसंख्या उससे भी अधिक होने से यहाँ हर वर्ष, प्रति हजार ग्यारह आदमी बढ़ रहे हैं। यदि यही क्रम जारी रहा तो सन् २००१ ई० में भारतीय जनसंख्या सत्तर करोड़ हो जाने की आशा है। क्या यह वृद्धि चिन्तनीय नहीं है? यह ठीक है कि भारतवर्ष की वर्तमान गरीबी और दुःख का कारण यहाँ की पराधीनता भी है; लेकिन जनसंख्या की अधिकता से भी गहरा इसका सम्बन्ध है। इसके बारे में श्री० स्वामी राम-तीर्थ जी के आगे लिखे शब्द विचार करने योग्य हैं :—

"हे भारतवासियों! इतना तो तुम लोकसंख्या की अधिकता से गरीब हो रहे हो और आशा करते हो कि प्रेम और सहानुभूति की वृद्धि हो। तुम्हारी यह आशा वृथा है। पदार्थ-विद्या का अभ्यास करनेवाले जानते हैं कि पदार्थों की आन्तरिक स्थिरता तब ही तक रह सकती है, जब तक उसके परिमाणु एक दूसरे से इतनी दूरी पर रहें कि छोटे परिमाणु को भी अपनी नियमित परिक्रमा करने में बाधा उपस्थित न हो। अब यह विचारना चाहिए कि भारत के राष्ट्र की क्या दशा है। क्या उसके व्यक्ति बिना एक-दूसरे से टकराये हुए अपनी नियमित चाल के अनुसार चल सकते हैं? क्या वे स्वतन्त्रता से अपनी नैसर्गिक गति को चला सकते हैं? जब एक का पेट भरने के लिए दस को भूखे मरना पड़ता है तब तो राष्ट्रीय स्थिरता कायम रखने के लिए हमें शीघ्र ही कोई उपाय करना चाहिए। यदि हमने ऐसा नहीं किया तो प्रकृति अपने नियमों के अनुसार हमारे साथ व्यवहार करेगी। ऐसी अवस्था के लिए (जैसी हमारी है), प्रकृति के नियम महर्षि वशिष्ट ने बताये है कि, दुष्काल, नाशकारक युद्ध और भूकम्प हैं। किसी समय आर्य उपनिवासियों के लिए यह बड़े सौभाग्य की बात थी कि उनके अधिक सन्तान हों, परन्तु अब वह समय गया और स्थिति बदल गयी। लोकसंख्या की अधिकता का विचार करते हुए यह ज्ञात होता है कि आज कल बड़े कुटुम्ब का होना एक प्रकार का दुर्भाग्य है। जो विचार-शून्य मनुष्य कहते हैं कि मरने के बाद स्वर्ग-प्राप्ति पुत्र होने पर अवलम्बित है, उनसे कहो कि जरा अपनी आँखें खोल देखें; अपने मरने के पहले ही संसार-वृद्धि के कारण तुमने अपने घर को अर्थात् वर्तमान भारत को साक्षात नर्क बना रखा है।"

दूसरे देशों की जनसंख्या जब ज़रूरत से ज्यादह बढ़ी तो उन्होंने

अपनी पैदावार बढ़ाने और उद्योग-धन्धों की उन्नति करने के अलावा विदेशों में जाने और उपनिवेश बसाने का कार्य किया है। भारत-वर्ष के भी कुछ आदमी आजीविका के लिए दूसरे देशों को जाते हैं, परन्तु अपने देश में ही पराधीनता का जीवन व्यतीत करने वालों को बाहर आदर-समान कब मिला है! हमारे प्रवासी भाइयों को जिन कष्टों का सामना करना पड़ा, और अब भी करना पड़ रहा है, उन्हें सुनकर बहुत से भाइयों का विदेशवास में साहसहीन हो जाना स्वाभाविक है। जो हो, जनसंख्या को बेहद न बढ़ने देने का दूसरा उपाय संयम, और इन्द्रियों को वश में रखना है। वे महाशय धन्य हैं, जो जन्म भर ब्रह्मचारी रहें, देश को अपना परिवार समझें और उसी की सेवा में अपना तन, मन, धन लगावें। इस सम्बन्ध में हिन्दुओं के प्राचीन आदर्श के अनुसार आश्रम-धर्म के प्रचार की बड़ी जरूरत है। ब्रह्मचर्य आश्रम पूरा करने पर ही गृहस्थी बना जाय। बाल विवाह, वृद्ध विवाह और अनमेल विवाह न हों। सन्तान जहाँ तक हो सके, कम हो। उचित आयु के बाद वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के धर्म का पालन किया जाय। इस से जनसंख्या मर्यादा के भीतर रहेगी।*

कुछ लोगों का कथन है कि 'संयम और ब्रह्मचर्य आदि की बात बहुत अच्छी जरूर है, लेकिन यह केवल ऊँचे विचारवालों के वास्ते है, सर्वसाधारण के लिए यह अमल में आने लायक नहीं है; उन्हें नकली उपायों से संतान-निग्रह करना चाहिए।' ये लोग जनता में इस प्रकार के विचारों का, अपने भाषणों तथा लेखों आदि से प्रचार

*वानप्रस्थ और संन्यासियों के रूप में देश को सच्चे, त्यागी, और कष्टों से न घबराने वाले स्वयं-सेवक भी अधिक मिल सकेंगे।

कर रहे हैं। कुछ स्थानों में संतान-निग्रह की शिक्षा देने की भी व्यवस्था हो चली है। यह मत वहाँ थोड़े समय से ही जारी हुआ है, पर इस पक्षवालों की संख्या धीरे धीरे बढ़ती जा रही है; खासकर नवशिक्षितों की प्रवृत्ति इस ओर बढ़ी हुई है। लेकिन जन-समाज इन बातों को भयंकर आशंका और घृणा की नजर से देखता है। वह भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति, नैतिकता और धार्मिकता के विचार से इसका विरोध करता है तथा यह भी बतलाता है कि उन देशों में जहाँ ये उपाय विशेष रूप से काम लाये गये हैं, समाज को बहुत क्षति उठानी पड़ी है; यहाँ तक कि वहाँ कितने ही बड़े बड़े नेता इसका घोर विरोध कर रहे हैं। मतलब यह कि जनसंख्या की अनुचित वृद्धि को रोकने के लिए पहले बताये हुए उपायों को ही काम में लाया जाना चाहिए।

स्वराज्य प्राप्त होने पर जनता की आर्थिक हालत सुधर जायगी, क्या तब भी जनसंख्या को मर्यादा में रखने की जरूरत रहेगी? यह सोचना ठीक नहीं है कि स्वराज्य पा लेने पर हम अपनी अंधाधुन्ध बढ़ायी हुई जनसंख्या का पालन करने के लिए दूसरे देशों को अपना गुलाम या प्रभाव-क्षेत्र बनावेंगे, और दूसरी जातियों को इस प्रकार नुकसान पहुँचावेंगे या उन्हें नष्ट करेंगे, जैसा कि इस ज़माने के उन्नत राष्ट्रों ने किया है, और कर रहे हैं। नये-नये आविष्कारों द्वारा देश की पैदावार बढ़ाने की कोशिश करते रहना उचित ही है, परन्तु अपना राष्ट्र-परिवार इतना बढ़ा लेना कि अन्त में उसकी रक्षा या पालन-पोषण के लिए दूसरों को नष्ट करना पड़े, बहुत बुरा है।

वर्तमान हालत में जरूरत इस बात की है कि भारतवासी अपनी

मातृभूमि के योग्य नागरिक बनें। ऐसी कोशिश होनी चाहिए कि समाज का प्रत्येक अंग राष्ट्र के लिए अधिक-से-अधिक उपयोगी हो। जिस प्रकार घर के कार्य में छोटा-बड़ा, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध सब अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार योग दे सकते हैं, उसी तरह राष्ट्र में भी हर व्यक्ति-समूह को अपना कर्त्तव्य भली भाँति पालन करना चाहिए। जैसा कि हमने 'भारतीय जागृति' में कहा है, हरेक विचार-शील आदमी को यह बात अजीब और दुखदायी मालूम होगी कि जनता के इतने बड़े होते हुए भी भारतवर्ष संसार में बहुत गया बीता है। बात यह है कि भारतीय जनता की विविध कड़ियों में से कई-एक बहुत कमजोर हैं:—(१) अब से कुछ वर्ष पहिले तक महिलाएँ सार्व-जनिक जीवन से दूर ही नहीं रहीं, वे बहुत-कुछ पुरुषों पर भार या उनके कार्य में बाधक थीं (२) अछूतों (हरिजनों) की समस्या पर हाल में ही विचार होने लगा है। (३) भिखारियों (४) जरायम-पेशा (अपराधी) कहे जाने वाले लोगों, तथा (५) वेश्याओं के विषय पर अभी तक भी विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। राष्ट्र के इन सब अंगों की उन्नति और सुधार होना आवश्यक है।

स्वास्थ्य-रक्षा

भारतवर्ष की जनसंख्या का विचार किया जा चुका। यहाँ की राष्ट्रीय शक्ति बढ़ाने के लिए दूसरी बातों में स्वास्थ्य और सदाचार की खास जरूरत है। पहले स्वास्थ्य-रक्षा का विचार करते हैं।

शान्ति हो या युद्ध हो, तन्दुरुस्त आदमी ही समाज का बल और राष्ट्र की शक्ति हैं। इसलिए स्वास्थ्य-रक्षा की ओर काफी ध्यान देना चाहिए। भारतवासियों के लिए यह धर्म के ही अन्दर एक जरूरी

विषय है, और वे शुद्ध और अनुकूल भोजन वस्त्र, स्वच्छ वायु तथा व्यायाम का महत्व भली भाँति जानते हैं। तिस पर भी उन्हें जैसा चाहिए, सुख नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि कुछ लोग तो शौकीनी या फैशन के कारण, परन्तु बहुत से अपनी दरिद्रता के कारण, उस जानकारी का उपयोग नहीं कर सकते। जिन अभागे भारतवासियों को दो वक्त पेट-भर रोटी नहीं मिलती, उन बेचारों को यह जान लेने से कुछ खास लाभ नहीं होता कि स्वास्थ्य के लिए खुली हवा के बंगलों में रहना चाहिए। भारतीय जनता के स्वास्थ्य का प्रश्न बहुत कुछ आर्थिक है। अत: स्वास्थ्य सुधारने के लिये लोगों की आर्थिक दशा सुधारने की सख्त जरूरत है।

कुछ और बातों की तरफ भी ध्यान दिया जाना उचित है। मिसाल के तौर पर स्कूलों में विद्यार्थियों के स्वास्थ्य-सुधार के प्रश्न पर भली प्रकार विचार होना चाहिए। मौजूदा हालत ने जनता के दिल में यह विश्वास जमा दिया है कि पढ़ने वाले आदमी रोगों के प्यारे बन जाते हैं। वे महाशय बड़े ही सौभाग्यशाली समझे जाते हैं, जो विद्वान् होकर भी मोटे ताजे और स्वस्थ बने रहे। नहीं तो चश्माधारी बनना अब फैशन में शामिल हो गया है। अनेक नौजवान विद्यार्थी डाक्टरों और वैद्यों के 'शुभचिन्तक मित्र' बने रहते हैं। यह हालत बड़ी शोचनीय है। इसके मुख्य कारण ये हैं—उचित भोजन न मिलना, मानसिक परिश्रम या दिमागी मेहनत ज्यादह करना, कसरत या व्यायाम में मन न लगना, सत्संगति और नैतिक शिक्षा की कमी, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन न करना, छोटी उमर की विवाह-शादियाँ और गृहस्थी की चिन्ता का भार, आदि। इन्हें दूर करने के लिए पिछले सालों में कुछ कोशिश हुई है; लेकिन और भी बहुत कोशिश होने की

आवश्यकता है।

इसी प्रकार दूसरे स्त्री पुरुषों के स्वास्थ्य पर विचार हो सकता है। हमें चाहिए कि इस विषय में अपना फ़र्ज़ पूरा करके राष्ट्र का बल बढ़ावें। अब सदाचार के सम्बन्ध में विचार किया जाता है।

सदाचार

सदाचार में विविध नैतिक गुण शामिल होते हैं, जैसे सच बोलना संयम, इन्द्रिय-दमन, उदारता और ईमानदारी आदि। जो आदमी सदाचारी नहीं होता, वह अकसर अपनी योग्यता का दुरुपयोग ही करता है। वह अपनी विद्या को विवाद का, धन को अहंकार का, और शारीरिक बल को दूसरों के सताने का साधन बना सकता है; जबकि सदाचारी आदमी इन गुणों से ज्ञान, दान और रक्षा का काम लेकर देश और जाति की सुख-शांति बढ़ाता है। सदाचार ही मनुष्यों या समाजों को उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचाता है। यही वह शक्ति है, जिसके द्वारा कोई देश या राष्ट्र ऊँचा आदर्श रख सकता है।

इतिहास इस बात का गवाह है कि जब राज्य की बागडोर आचार-हीन या दुराचारी आदमियों के हाथ में आ जाती है तो देश का पतन आरम्भ हो जाता है। भारत को जर्जर और वैभवहीन कर डालने वाला महाभारत क्यों हुआ? दुर्योधन या दुश्शासन जैसे चरित्र-हीन आदमियों के सत्ताधारी हो जाने से। मुसलमानों के सामने, हिन्दुओं की अन्त में हार क्यों हुई? एक ओर तो वीर पृथ्वीराज ने महलों के आनन्द ऐश्वर्य और भोग-विलास में पड़कर अपने राष्ट्रीय कर्त्तव्य की ओर काफ़ी ध्यान न दिया, दूसरी ओर

उसके ससुर जयचन्द की ईर्षा ऐसी प्रचण्ड हो गयी कि उसने अपने देश-प्रेम को भी भस्म कर डाला। छल, कपट, देशद्रोह और विलासिता का परिणाम और क्या होना था ? भारतवर्ष में हिन्दू सम्राट् के शासन-काल की इतिश्री हो गयी। इसके खिलाफ हिन्दू जाति में राणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी और गुरू गोविन्दसिंह आदि का हमेशा याद रखने योग्य नाम जीवन संचार करने वाला कैसे हो गया ? उनके अपार कष्ट-सहन और कठोर व्रतों के पालन के कारण। धन्य ! भारत माता !! तू ने अपनी मुसीबत और अन्धकार-काल में भी ऐसे पुरुष-रत्नों को जन्म दिया।

अच्छा, यहाँ मुसलमानों के राज्य का अन्त क्यों हुआ ? ऐयाशी और विलासिता के कारण। आखिर मुग़ल शासकों ने अपने पूर्वजों के घोर परिश्रम का फल शराब की बोतलों में नष्ट कर डाला। इनकी देखादेखी इनके सहायक और अधीन पदाधिकारी भी खुशामदी, कायर और आरामपसन्द हो गये ! स्वतन्त्रता देवी यह अपमान कब तक सहन करती ! उसने धीरे धीरे सारे भारत से बिदा ली। कष्ट सहने वाले स्वदेशभक्त अङ्गरेजों की बन आयी, जो आदमी यहाँ व्यापार के लिए आये थे, उन्होंने अवसर पाकर देश पर ही कब्जा कर लिया।

अस्तु, अब इस सिलसिले में थोड़ा-सा यह भी विचार कर लें कि इस समय अङ्गरेज बहादुरों की हुकूमत की नींव क्यों डाँवाडोल हो रही है। महारानी विक्टोरिया की घोषणा को 'राजनैतिक छल' समझने और उसे रद्दी कागज का टुकड़ा बना डालने से, अनेक लोभी लालची कर्मचारियों के अनुचित व्यवहार से, महायुद्ध के समय प्रजा को बड़े-बड़े वचन देने और मतलब निकल जाने पर उनका पालन न

करने से, अनेक स्थानों में घोर अत्याचार करने से, स्त्रियों, बालकों और बूढ़ों की भी रक्षा न करने से, भयङ्कर दमन दावानल से, और किसी-न-किसी बहाने अपनी सत्ता अटूट बनाये रखने से।

इस समय भारतवर्ष आज़ादी पाने तथा राष्ट्रीय समस्याओंके हल करने में लगा है। इसके लिए भारतीय समाज में सदाचार की बहुत जरूरत है। हम ऐसी हिम्मत वाले हों कि मौत से भी न डरें; ऐसे धर्मात्मा हों कि ऊँचे सिद्धाँन्तों के पालन करने के सामने किसी भी दूसरी बात को महत्व न दें; ऐसे संयमी हों कि दुनिया के भोग-विलास हमारा पतन न कर सकें; ऐसे निर्लोभी हों कि विदेशी अधिकारी हमें किसी भी कीमत से न ख़रीद सकें। हमारा भोजन सात्विक हो, रहन-सहन साधारण हो, हमारे विचारों में पवित्रता हो। ईर्षा-द्वेष; कलह और फूट से हम अपने समाज-बल को खंड-खंड न करके दया, मेल और परोपकार से उसे बढ़ानेवाले हों। मतलब यह कि हम यथेष्ट सदाचारी हों। फिर हम सहज ही स्वतंत्रता पाने योग्य होंगे, और अपनी राष्ट्रीय समस्याओं को अच्छी तरह हल कर सकेंगे।

पाँचवाँ परिच्छेद

संगठन

जिनको हम पैरों तले गिरा कर अपमानित करते हैं, वे ही हमारे रास्ते में हमारे सामने बाधा-रूप में खड़े हो जाते हैं; वे भारी होकर हमको नीचे की ओर खींचते रहते हैं। —*रविन्द्रनाथ ठाकुर*

हिन्दू किसान और मुसलमान किसान, हिन्दू मज़दूर और मुसलमान मज़दूर, हिन्दू बेकार और मुसलमान बेकार के स्वार्थों में कोई भेद नहीं है। —*शुकदेवराय*

संगठन का आधार; मेहनत मज़दूरी—जिस राष्ट्रीय संगठन का हम सपना देखते हैं, नहीं-नहीं, जो लहर कट्टरपन्थियों का विरोध होते हुए भी, बड़े वेग से आ रही है, उसमें किसी के अधिकार सिर्फ जन्म या खानदान के कारण न माने जायेंगे। उसमें जाति या सम्प्रदाय आदि का भेद भाव न होगा, ऊँच-नीच की भावना न होगी, अस्पृश्यता या अछूतपन जैसी सामजिक कलंक की की बात न रहेगी। मौजूदा हालत में बहुत-से आदमी सभा समितियाँ संगठित करके उनके द्वारा अपनी-अपनी जाति या सम्प्रदाय की उन्नति की कोशिश करते हैं; वे उसके लिए विशेष राजनैतिक अधिकारों या सुविधाओं की माँग करते हैं। परन्तु इसमें कोई सार नहीं है। किसानों मजदूरों तथा बेकारों के स्वार्थ समान हैं, वे लोग किसी भी जाति या सम्प्रदाय के हों। यदि एक प्रान्त के किसी भाग में सिंचाई का इन्तजाम ठीक नहीं है, या लगान की दर बहुत ऊँचा है, तो उससे वहाँ के सभी किसानों की हानि होगी, चाहे वे किसान जाट हों या गूजर, हिन्दू हों या मुसलमान। यदि किसी जगह कारखाना-कानून (फेक्टरी एक्ट) ठीक नहीं है तो उससे सभी मजदूरों के हित में बाधा होगी; यह नहीं होगा कि किसी खास जाति या सम्प्रदाय के मजदूरों के हित में बाधा हो। जाहिर है कि लोगों के संगठन का आधार जाति या सम्प्रदाय न होकर, पेशा और स्थान होना चाहिए।

राष्ट्र में श्रम या मेहनत का उचित आदर होना चाहिए, वह श्रम शारीरिक हो या मानसिक। जो आदमी राष्ट्र के लिए जितनी अधिक कड़ी मेहनत करता है, उसे उतनी ही अधिक आमदनी होनी चाहिए; अगर वह स्वयंसेवक है तो उसे उतना ही अधिक आदरमान मिलना चाहिए। इसी तरह जो आदमी या समूह, समाज के लिए, कुछ

उपयोगी कार्य नहीं करते, उन्हें समाज की ओर से आदर पाने का कोई अधिकार नहीं है। देश के किसी आदमी को दूसरों पर भार न होना चाहिए, सब को स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करना चाहिए।

संगठन का आधार श्रम मानने और श्रमजीवियों को ही समाज में सुख और आदर-मान देने की बात उन जमींदारों, साहूकारों, पूँजीपतियों और कारखानेवालों को बहुत अखरेगी, जो बिना खास मेहनत किये ही दूसरों के श्रम के सहारे खूब सुख या विलासिता भोगते रहते हैं, जो धन की पैदावार के साधनों में से भूमि और पूँजी के मालिक बने बैठे हैं, और जिन्हें खास राजनैतिक अधिकार भी मिले हुए हैं। उन्हें समाजवाद की भावना में अपनी साफ हानि दीखती है; नहीं, अपने विनाश की आशंका होती है। इसलिए वे इसका भरसक विरोध करते हैं, और उनके विरोध को देखकर साधारण मनुष्य यह कहने लगते हैं कि समाजवाद की बात उठाकर श्रेणी-युद्ध की भावना क्यों जगायी जाय, इससे राष्ट्र के संगठन में भयङ्कर बाधा खड़ी होती है। इस सम्बन्ध में याद रहे कि राष्ट्र का असली और स्थायी सङ्गठन उस समय तक नहीं हो सकता, जब तक कि एक श्रेणी दूसरी से अनुचित लाभ उठायेगी, और उस का शोषण करती रहेगी। बलवानों और निर्बलों का एक संगठन नहीं हो सकता। अच्छे संगठन के लिए समता चाहिए; सब श्रेणी-भेदों का अन्त होकर सब आदमियों को अपनी उन्नति और विकास का समान अवसर मिलना चाहिए, किसी को दूसरों पर जबरदस्ती करने का अधिकार होना चाहिए।

समाज-सुधार की जरूरत—संगठन अच्छा होने के लिए यह जरूरी है कि समाज-सुधार के कार्य की ओर खूब ध्यान दिया जाय।

इस समय हरेक समाज में बहुत सी कुरीतियाँ घुसी हुई हैं; मिसाल के तौर पर बाल-विवाह या बेमेल विवाह, फजूलखर्ची, अस्पृश्यता, अनुचित दान-धर्म, और पर्दा आदि। इन्हें निवारण करने के लिए विविध संस्थाएँ उद्योग कर रही हैं, और पिछले दिनों में सुधार की गति भी अच्छी खासी रही है, तो भी अभी बहुत काम होना बाकी है। हरेक समाज के विचारवान आदमियों को चाहिए कि इन कुरीतियों को दूर करने के लिए ज़ोरदार और संगठित प्रयत्न करने में एक दूसरे की मदद करें।

दान-धर्म—हमारे यहाँ बहुत से आदमी समाज के भक्ति-भाव अन्धश्रद्धा, और अज्ञान से अनुचित लाभ उठा कर परावलम्बी जीवन बिताते हैं। बहुत से गाँव या नगरों में, खासकर तीर्थों में पंडे, पुजारी, महन्त, साधु, फकीर आदि दूसरों की गाढ़ी कमाई पर मौज उड़ाते हैं, विलासिता का जीवन व्यतीत करते हैं। जनसाधारण को इन लोगों से बेढब सहानुभूति है। दिन रात मेहनत मज़दूरी करने वाले आदमी समाज में नीची श्रेणी के समझे जाते हैं, परन्तु 'धार्मिक' बाने वाले साधुओं आदि को जहाँ तक बन आवे, भोजन-वस्त्र तथा पैसा, दान करके उनका आदर-सत्कार करना भारतीय गृहस्थ अपना कर्त्तव्य ही समझते हैं।

हम दान देने के काम की बुराई नहीं करते, परन्तु दान वही ठीक है,जो सुपात्रों को मिले; जिससे राष्ट्र के स्वयंसेवकों की परवरिश हो; देश में उपयोगी शिक्षा, साहित्य, कला-कौशल और उद्योग-धन्धों की वृद्धि हो। हमारे भाइयों की मौजूदा दान-प्रणाली से तो अकसर मुफ्तखोरों की संख्या बढ़ती है; लाखों आदमी हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहते हैं और बेकारी का जीवन बिताते हुए दूसरों पर भार-स्वरूप

होते हैं। इसमें सुधार होने की बहुत जरूरत है।

जाति-भेद और अस्पृश्यता—राष्ट्रीयता चाहतीहै कि समाज में हर आदमी को उसके गुण-कर्मों के अनुसार स्थान मिले; केवल किसी जाति-विशेष में जन्म लेने के आधार पर, किसी आदमी या समूह को ऊंचा नहीं माना जाना चाहिए। इस समय यहाँ अनेक आदमी अशिक्षित, गन्दे और परावलम्बी रहते हुए भी उच्च जाति के माने जाते हैं। इसके खिलाफ, जो रात-दिन मेहनत करके अपना निर्वाह करते हैं, तथा 'उच्च' कहे जानेवालों के सुख भोगने में मदद करते हैं, वे 'नीच' और कुछ दशाओं में अस्पृश्य या अछूत समझे जाते हैं। उन्हें उनके नागरिक अधिकार नहीं दिये जाते, और असमर्थ, निर्बल तथा असहाय रहने दिया जाता है।

किसी जंजीर की मजबूती की परीक्षा उसकी सब से कमजोर कड़ी से हुआ करती है। जहाँ तक उस कड़ी की ताकत होती है, वहीं तक कुल जंजीर की सामर्थ्य समझी जायगी। राष्ट्र-संगठन में किसी खास अङ्ग की ओर उदासीनता रखते हुए कभी सफलता नहीं मिल सकती। इसलिये, कमजोरों पर दया करने के विचार से न सही, स्वार्थ-बुद्धि से ही हमें अछूतों या हरिजनों के सवाल को हल करना पड़ेगा, और उन्हें आदमी के योग्य अधिकार देने पड़ेंगे। खुशी की बात है कि राष्ट्रीय आन्दोलन में अब इस विषय की ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। महात्मा गांधी आदि के उपदेश से, तथा उससे भी बढ़कर उनके उदाहरण से हरिजनों के उत्थान का सवाल राष्ट्रीय आन्दोलन का एक लाजमी हिस्सा हो गया है। ब्रह्म समाज, आर्यसमाज और थियोसोफिकल सोसाइटी आदि संस्थाएँ इस कार्य में पहले से योग दे रही हैं। इसका बयान हमने अपनी "भारतीय

जागृति" में किया है। सब देश-प्रेमियों से नम्र निवेदन है कि दलित भाइयों के उद्धार में भरसक हिस्सा लें। यदि वे मैले हैं तो उन्हें सफाई की शिक्षा दें, यदि वे मूर्ख हैं तो ज्ञान उन्हें दें, वे भूखे हैं तो उनकी आजीविका का इन्तजाम करें; यह हमारा ही तो दोष है कि वे हिन्दू और हिन्दुस्तानी कहलाते हुए भी गिरी हुई हालत में रहे।

प्यारे भाइयो! सुधार की बात सुनकर बिगड़ बैठना ठीक नहीं; जरा शन्ति और गम्भीरता से विचार करने की जरूरत है। यह बहुत अनुचित है कि हम अपने इन पाँच-छः करोड़ भाइयों की उपेक्षा करें। हम देखते हैं कि हबशियों में से कितने ही योग्य नेता और पथ-प्रदर्शक या रहनुमा निकल आये; क्या इतने 'शूद्रों' में कुछ नर-रत्न न निकल आवेंगे? जरूर निकलेंगे, लेकिन उन्हें अपनी शक्ति और गुणों के विकास करने का अवसर भी तो मिले।

सभाओं का संगठन—पहले कहा जा चुका है कि संगठन का आधार जन्म, जाति, सम्प्रदाय न होकर, स्थान और पेशा होना चाहिए। इस प्रकार देश में किसानों, मजदूरो, लेखकों, डाक्टरों, वैद्यों आदि की सभाएँ बननी उचित है। हरेक सभा में सभी जातियों के किसान या मजदूर आदि शामिल होने चाहिएँ, चाहे वे ब्राह्मण हो या वैश्य, हिन्दू हों या मुसलमान, ईसाई हों या पारसी आदि। इन सभा समितियों का कर्त्तव्य है कि राष्ट्र के हित का ध्यान रखते हुए अपने-अपने मेम्बरों की योग्यता और कार्य-कुशलता बढ़ावें तथा उन्हें ज्यादा से ज्यादह उपयोगी बनाती रहें। आगे हम दो-एक प्रकार के संगठनों की विशेष चर्चा करते हैं, उससे यह साफ हो जायगा कि देश की दूसरी सभा-समितियों को अपना कार्यक्रम कैसा रखना चाहिए, और उनके वास्ते कैसी कैसी बातों का विचार रखना

ज़रूरी है।

किसानों का संगठन—भारतवर्ष की जनता ज़्यादहतर किसानों की है। जैसा कि हमने 'भारतीय जागृति' में कहा है, गाँव-गाँव में किसानों की एक पंचायत, सभा या संघ स्थापित होकर, उसे उस गाँव की परिस्थिति के अनुसार वहाँ के किसानों के हित-साधन में लगना चाहिए, और जहाँ तक बन आवे, दूसरे गाँवों की इस तरह की संस्थाओं से सहयोग करना चाहिए। इसका उद्देश्य किसानों के उचित अधिकारों की रक्षा करना, और उनकी उन्नति करना, होना चाहिए। पिछले वर्षों में किसान-सभाएँ, बहुत बढ़ी हैं तो भी इनके अभी और भी बढ़ने और संगठित होने की आवश्यकता है। लेकिन याद रहे, इन सबका उद्देश्य देश को सुखी और स्वतन्त्र करना है, इस-लिए इनका आन्दोलन किसी प्रकार काँग्रेस जैसी संस्था के कार्य में बाधक न होना चाहिए, जो इसी उद्देश्य को पूरा करने में लगी हुई है, और उसमें धीरे धीरे सफल भी हो रही है।

मजदूरों का संगठन—मजदूरों का ऐसा सङ्गठन होना उचित ही है, जो मजदूरी की दर, घंटे और मजदूरों की दूसरी सुविधाओं के लिए उचित इन्तजाम करें। ऐसे संगठन से हरेक राष्ट्र-हितैषी की सहानुभूति होगी। परन्तु यह भी तो जरूरी है कि मजदूर देश-हित का पूरा ध्यान रखें, राष्ट्र-सभा के झंडे के नीचे काम करें, और उसकी शक्ति को बढ़ाते रहें। वे व्यावहारिक राजनीति का विचार रखें और साम्राज्यवाद का सामना करने के लिए संयुक्त मोर्चे की नीति को सफल करने में सहायक हों।

महिलाओं का संगठन—स्त्रियों की उन्नति के लिए उनका भी सङ्गठित होना ज़रूरी है। हाँ, उनके किसी सङ्गठन का आधार

जातिगत या साम्प्रदायिक न होना चाहिए। महिलाओं की समस्याएँ सभी जातियों में करीब-करीब एकसी हैं, और उन्हें हल करने के लिए सब को मिलकर कोशिश करनी चाहिए। लड़कियों को अच्छी गृहिणी (घर वाली) बनाने की बड़ी ज़रूरत है। उनकी शिक्षा में उन विषयों की व्यावहारिक शिक्षा भी शामिल रहनी चाहिए, जिनसे उन्हें दिन-रात काम पड़ता है, यथा गृह-प्रबन्ध, आरोग्यता, रोगियों की सेवा, चिकित्सा, पाक-शास्त्र (रसोई), धातृविद्या या धाय का काम, पढ़ाना और संतान का पालन-पोषण आदि। ऐसी शिक्षा का इन्तजाम हो जाने से, यह लाभ होगा कि अनाथ या असहाय हो जाने की दशा में स्त्रियाँ दूसरों के आश्रित न रह कर खुद अपना निर्वाह करने योग्य होंगी। इसके अलावा जिन महिलाओं के मन में लोक-सेवा के भाव जागृत हो गये हैं, वे अपनी वह अभिलाषा पूरी कर सकेंगी।*

अन्य देशों के साहित्य में वहाँ की महिलाओं का बड़ा हिस्सा है। कोशिश करने पर भारतीय स्त्रियाँ भी अपनी विदेशी बहिनों की सी योग्यता प्राप्त कर सकती हैं। उनमें स्वभाव से ही मनुष्यों की मानसिक स्थिति तथा रुचि पहिचानाने की शक्ति है, और वे अपनी बुद्धि, कौशल, और चतुराई के कारण अनेक नीरस विषयों को सरस बना सकती हैं। एक साहित्य ही क्या, स्त्रियाँ कई तरह से देश-सेवा कर सकती हैं। ऐसे कार्य तो खासकर स्त्री-समाज के ही करने योग्य मालूम होते हैं, जिन में कोमलता, मधुरता आदि गुणों की ज़रूरत हो; मिसाल के तौर पर बीमारों की सेवा-सुश्रूषा करना, दुखियों की

*माता कस्तूर बा की याद में एक कोष क़ायम किया गया है, इसमें डेढ़ करोड़ रुपया जमा हो गया है, और भी रुपया आता रहेगा। इस कोष से स्थान-स्थान पर स्त्रियों की शिक्षा और उन्नति का इन्तजाम किया जायगा।

दिलासा दिलाना और उनसे शान्ति की बातें करना आदि। स्त्रियों के संगठन का उद्देश्य उनमें इन गुणों को बढ़ाना, होना चाहिए।

नवयुवकों का सङ्गठन—इसी प्रकार नवयुवकों का सङ्गठन भी जातिगत या साम्प्रदायिक न होकर कुछ विशेष गुणों की वृद्धि के लिए, और राष्ट्रीयता के आधार पर, होना चाहिए। मिस्र, टर्की और जापान आदि देशों ने पिछले वर्षों में जो उन्नति की है, वह बहुत-कुछ उनके नवयुवकों से हुई है। भारतवर्ष की भी स्थायी उन्नति होने की आशा तभी पूरी होगी, जब उसे जारी रखने के लिये देश के भावी नेता अर्थात् नवयुवक तैयार हों। देश-सेवा का कार्य ऐसा व्यापक है कि हर आदमी या समूह को उसमें अपनी रुचि या सामर्थ्य के अनुसार कुछ-न-कुछ हिस्सा लेने का अवसर मिल सकता है। युवकों को चाहिए कि बालचर (स्काउट्स) या सेवा-समितियों के सदस्य बनकर सेवा-कार्य करना सीखें और अपना उद्देश्य ऊँचा रखें।

विशेष वक्तव्य—हमने ऊपर कुछ समूहों के सङ्गठन के बारे में लिखा है। इसी तरह दूसरे समूहों को भारतीय राष्ट्र की सेवा करने के लिए ही अपना-अपना सङ्गठन करना चाहिए। इनमें साम्प्रदायिकता का भाव न होना चाहिए। प्रत्येक संगठन के नियम अच्छी तरह बने हों; हर जाति या सम्प्रदाय के लिए समान हों। जिन सभा-संस्थाओं का काम केवल कुछ मौखिक या ज़बानी कार्य करके, भाषणों या लेखों द्वारा जाति-गत या साम्प्रदायिक ओछे विचारों का प्रचार करना तथा आपसी कलह बढ़ाना होता है, वे संगठन नहीं, सङ्गठन के नाम पर कलंक हैं। सङ्गठन वही है, जो सत्य और न्याय के आधार पर हो, जिसका मूल मंत्र प्रेम हो, जो हमें अपने देश-भाइयों की सेवा और सहायता के लिए अधिक-से-अधिक उपयोगी बनाये।

छठा परिच्छेद

साम्प्रदायिकता

मज़हब नहीं सिखाता, आपस में बैर रखना ।
हिन्दी हैं हम, वतन है हिन्दुस्तां हमारा ॥

—'इकबाल'

साम्प्रदायिक समस्या का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है, यह ज्यादह-तर आर्थिक, राजनैतिक, और लोगों की निजी समस्या कही जा सकती है। किसी देश में अलग-अलग सम्प्रदायों का होना बुरा नहीं, लेकिन सामाजिक जीवन में कदम-कदम पर अपनी साम्प्रदायिकता का बेसुरा राग अलापना, राष्ट्रीयता भंग करना और राजनैतिक प्रगति को रोकना बहुत हानिकारक है। भारतवर्ष में कई धर्मों के आदमी रहते हैं। कहीं-कहीं कुछ जैन, सिक्ख और बौद्ध अपने आपको हिन्दुओं से जुदा मानते हैं; बहुत से मुसलमान अपने लिए, मुसलमान होने के कारण, विशेष राजनैतिक अधिकार चाहते हैं। इसी तरह कुछ योरपियन आदि का भी ऐसा ही दावा होता है। यह संतोष की बात है कि पारसियों ने, और पिछले दिनों ईसाइयों और एँग्लो-इंडियनों ने, अपने ऊपर विश्वास रखा है। ये अल्पसंख्यक होने के आधार पर किसी खास संरक्षण की माँग नहीं करते। जो हो, यहाँ अलग-अलग सम्प्रदायों के कारण, साम्प्रदायिक समस्या ने बड़ा जटिल स्वरूप धारण कर रखा है।

साम्प्रदायिकता का मूल; अज्ञान या स्वार्थ—वास्तव में, 'साम्प्रदायिक' कही जाने वाली समस्याओं में कोई सार नहीं, इनका कारण लोगों का अज्ञान या स्वार्थ है। जब लोगों के ध्यान में यह बात अच्छी तरह आजायगी कि एक देश या राष्ट्र में रहनेवालों के स्वार्थ और हित मिले हुए होते हैं, साम्प्रदायिकता का लोप हो जायगा। कौन नहीं जानता कि देश में अकाल, बाढ़, महामारी या मँहगाई का धावा ब्राह्मण-अब्राह्मण अथवा हिन्दुओं और मुसलमानों के भेद को नहीं देखता; पराधीनता, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद हम सब का शोषण कर रहे हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य और आजीविका की हम सब को समान चिन्ता है।

सम्प्रदायिक नेता इन बातों को भुला कर समय-बे- समय अलहदगी की बातें कहा करते हैं। उनका उद्देश्य यह रहता है कि उन्हें अपने-अपने सम्प्रदायवालों से जाति-हितैषिता या धर्म-प्रेम की सनद मिले; सम्प्रदायवाले उनको सरकारी नौकरी, कौंसिलों की मेम्बरी अथवा दूसरी सामाजिक मान-प्रतिष्ठा दिलाने में मदद करें। नहीं तो यह साफ़ जाहिर है कि इस युग की बड़ी समस्या रोटी-कपड़े की है। जहाँ पैसे का मामला आया, चोटी और दाढ़ी का भेद नहीं रहता; पंडित और मौलवी सब एक हो जाते हैं। सूद की दर घटाने या लगान कम करने का विरोध सब साहूकार और जमींदार करते हैं, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, सिक्ख हों या ईसाई आदि।

हिन्दुओं में साम्प्रदायिकता—भारतवर्ष में साम्प्रदायिकता ज्यादहतर मुसलमानों में है, पर हिन्दू भी इस रोग से पूरे तौर पर बरी होने का अभिमान नहीं कर सकते। यह ठीक है कि जब

कोई हिन्दुओं और अ-हिन्दुओं का प्रश्न उपस्थित होता है तो हिन्दू अकसर अपनी फूट के भावों को दबा लेते हैं, पर जहाँ हिन्दू-हिन्दू का ही मामला होता है तो उनमें भी राष्ट्रीयता की कमी छिपाये नहीं छिपती। हमारी म्युनिसपेलटियों, जिला-बोर्डों और कौंसिलों में कहीं वैश्य और क्षत्रिय की बात आती है, कहीं ब्राह्मण और कायस्थ आदि की। निर्वाचन या चुनाव के समय हमारी कड़ी परीक्षा होती है। ऐसे उम्मेदवार या उनके एजन्ट बहुत कम होते हैं, जिन्हें अपने निजी स्वार्थ के लिए जातिगत या साम्प्रदायिक भावों के उभारने में कुछ संकोच होता हो। उस समय एकता का बाना उतार कर फेंक दिया जाता है, और मतदाताओं से सम्प्रदाय, जाति या बिरादरी के नाम पर अपील की जाती है। इस से भोली-भाली जनता सहज ही बहक जाती है। प्रजातंत्र-शासन की स्थापना और संचालन के लिए आवश्यक है कि आदमी अपने-आप को ओछे, निजी या साम्प्रदायिक भावों से बचाए रखें और सार्वजनिक विषयों पर सामूहिक या राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार करें।

हिन्दू-मुसलिम प्रश्न—भारतवर्ष में हिन्दू और मुसलमान एक हज़ार वर्ष से साथ-साथ रहते आये हैं। कुछ थोड़ी-सी बातों को छोड़कर इनका आपसी सम्बन्ध बहुत प्रेम का रहा है। असल में अङ्गरेजों के आने के पहिले यहाँ हिन्दू-मुसलिम समस्या आजकल की सी कभी नहीं रही। अपने मौजूदा रूप में यह समस्या ब्रिटिश सरकार की ही देन है। उसने इस देश में अपनी बुनियाद मज़बूत बनाने के लिए जनता को उकसाया और भड़काया है। पृथक् निर्वाचन, विशेष प्रतिनिधित्व और साम्प्रदायिक निर्णय का रहस्य इसी बात में है। इस विषय में आगे विचार किया जायगा। असल में मुसलमान

हिन्दुओं से इतनी दूर नहीं है, जितना समझा जाता है। वे ज्यादहतर इसी देश के रहनेवाले हैं, यहाँ की ही नस्ल और मिट्टी से उनकी पैदायश हुई, यहाँ के ही अन्न पानी और हवा से उनका पालनपोषण हुआ, और होता है। यहाँ ही उन्हें अपना अन्तिम समय बिताना होगा। हिन्दुओं की भीत से उनकी भीत, तथा खेत से खेत लगा हुआ है, चोली-दामन का साथ है। इस तरह भारत की ही भलाई में उनकी भलाई है, और इस देश की बुराई में उनकी भी बुराई है। उनके कुछ तीर्थ भारत की हद से बाहर हैं और उनका दूसरे देशों के निवासियों से कुछ धर्म-सम्बन्ध है, तो भी उन्हें बाहर से किसी विशेष सहायता की आशा न करनी चाहिए। दुःख हो, सुख हो; हिन्दू ही उनके काम आयेंगे।

इस्लाम धर्म अवश्य अरब से आया तथा कुछ मुसलमान (जिनकी संख्या दाल में नमक के बराबर भी नहीं है) उन लोगों के खानदान के हैं, जिन्होंने पश्चिमोत्तर सीमा से यहाँ प्रवेश किया। लेकिन शेष सब मुसलमान इसी देश के निवासियों में से हैं। वे हमारी ही नस्ल के हैं। पिछली सदियों में किसी लोभ से, ऊँची जातिवालों के दुर्व्यवहार से, अथवा किसी दूसरी मजबूरी से, कुछ हिन्दूओं ने अपना धर्म छोड़कर इस्लाम धर्म मंजूर कर लिया था। भारतवर्ष के वर्तमान मुसलमानों में से ज्यादहतर उनके ही वंश के हैं। राजपूताना और मध्यप्रदेश आदि भागों की स्थिति विचारने से हिन्दू मुसलमानों के आपसी प्रेम का पता अच्छी तरह मिल सकता है। यहाँ मुसलमानों के बहुत से रिवाज हिन्दुओं से मिलते जुलते हैं। विवाह तथा मृत्यु सम्बन्धी रीति रस्म अकसर एकसी होती हैं। वे हिन्दुओं के देवी-देवताओं को पूजते हैं, ज्योतिषियों में श्रद्धा रखते हैं, गौ और ब्राह्मण का अब तक बहुत मान करते हैं, और हिन्दुओं से मिले-जुले रहते हैं।

गोहत्या और बाजा—आम तौर से हिन्दू-मुसलिम विरोध गोहत्या तथा बाजे के झगड़े के रूप में सामने आता है। असल में ये

बातें तो विरोध या वैमनस्य के सिर्फ बाहरी लक्षण हैं। मूल विकार है भीतरी अविश्वास, जो मुसलमानों के हृदय में हिन्दुओं के प्रति है—चाहे यह अविश्वास अदूरदर्शी और खुदगर्ज़ नेताओं ने पैदा किया और बढ़ाया है, और चाहे अधिकारियों ने। तो भी गोवध और बाजे के बारे में कुछ विचार कर लेना अच्छा है। गाय की कुर्बानी मुसलमानों के लिए लाज़मी नहीं है; यदि यह न की जाय तो उनके धर्म-पालन में कुछ फ़र्क नहीं आता। अरब, मिस्र मराको, टर्की व ईरान आदि देशों में गाय की कुर्बानी नहीं की जाती। भारत के मुसलमान भी यदि किसी दूसरे पशु से काम ले लिया करें तो मेल के रास्ते से एक बड़ी रुकावट दूर हो जावे।

मुसलमान भाइयों को यह समझ लेना चाहिए कि भारतवर्ष में, खेती का धंधा मुख्य होने के कारण, बैलों का आर्थिक महत्व बहुत है, और गोहत्या से सभी को हानि है। जब गौओं की कमी, और उसके कारण दूध-घी की कमी और मँहगाई होती है तो हिन्दू और मुसलमान सभी को कष्ट उठाना पड़ता है। इस तरह मुसलमानों को खुद अपने फ़ायदे के लिए भी गोरक्षा का विचार करना चाहिए, और हिन्दुओं से मिलकर ऐसी कोशिश करनी चाहिए, जिससे इस देश में ईसाइयों और खासकर अंगरेज़ी सेना के लिए होनेवाला भयानक गोवध बन्द हो और जनता का कल्याण हो। अकसर मुसलमानों से अपील की जाती है कि गाय को हिन्दू माता के समान पूज्य मानते हैं, इसलिये गोहत्या नहीं की जानी चाहिए; ऐसी बात का साम्प्रदायिक मुसलमानों पर ज्यादह असर नहीं होता। उनके लिए हमें गौ के सवाल को धार्मिक स्वरूप न दे, आर्थिक दृष्टि से रखना चाहिए। और, असल में यह सवाल है भी ज्यादहतर आर्थिक ही। मौलाना मुहम्मदअली ने

कोकोनाडा काँग्रेस में सभापति के पद से भाषण देते हुए कहा था, कि 'हिन्दुस्तान के वे मुसलमान, जो महँगा भेड़ बकरी का माँस खरीद सकते हैं, गो-माँस बहुत कम खाते हैं, पर ग़रीब मुसलमानों के लिए तो यह खास भोजन है।' इस तरह विचार करें तो गोरक्षा का मुख्य उपाय यह है कि गौओं की नस्ल सुधारी जाय, और उनका दूध बढ़ाया जाय, जिससे वे अधिक उपयोगी और कीमती हों; उन्हें मारने में नफा न होकर सरासर नुकसान हो।

अब बाजे की बात लीजिए। बहुधा हिन्दुओं के विवाह-शादियों या त्योहारों और उत्सवों के अवसर पर मुसलमान बाजे से अपनी 'नमाज़ में खलल' (प्रार्थना में बाधा) पड़ने का बहाना लेकर झगड़ा-टंटा कर बैठते हैं। लेकिन जब खुद मुसलमान भाई मोहर्रम आदि के मौके पर खूब धूमधाम करते हैं तो दूसरे मुसलमान कुछ एतराज नहीं करते। इसी तरह जबकि बहुत-सी मसजिदें सड़क के किनारे हैं तो इक्के, ताँगे मोटर, ट्राम आदि का शोरगुल हर समय उन मसजिदों में पहुँचेगा ही, उसे किसी तरह रोका नहीं जा सकता। जो भाई पूजा-प्रार्थना बहुत ही शान्ति से करना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि अपने मन्दिर मसजिद बस्ती से बाहर एकान्त में बनावें। ज़रूरत है कि संकीर्णता या तंगदिली को छोड़कर लोग कुछ उदार बनें और इन तुच्छ बातों पर झगड़ा न किया करें। हम तो मुसलमानों से यह कहेंगे कि अपने पड़ोसी हिन्दू भाइयों के विवाह-शादियों और त्योहारों में किसी प्रकार की बाधा डालने के बजाय, उन्हें ऐसे मौकों पर खुशी मनानी चाहिए। इसी तरह की सलाह हम हिन्दुओं को भी देना उचित समझते हैं।

विचारशील मुसलमानों का मत; दूसरे देशों की बात—मौलवी

लियाकतहुसेन सब नागरिकों के लिए समान अधिकारों का समर्थन करते हैं। आपका कहना है, "हर आदमी को आम रास्ता काम में लाने का हक है। हर कोई आम रास्तों पर सजावट और बाजे-गाजे के साथ निकलने का हकदार है। हम मुसलमानों को मसजिद के पास भी उनको रोकने का हक नहीं है। दूसरे सब मुसलिम देशों में—अरब, फारिस आदि में—बाजा सार्वजनिक मनोरञ्जन की चीज़ है। वहाँ सार्वजनिक जलूस बाजे के साथ निकाले जाते हैं; फिर, हिन्दुस्तान में ही इतना हल्ला क्यों मचाया जाता है!"

मौलवी कुतुबुद्दीन अहमद (भूतपूर्व मंत्री, बंगाल प्रान्तीय मुसलिम लीग) ने तो गोहत्या और बाजे के प्रश्न को बिलकुल खुदगर्ज लोगों का काम बताते हुए दूसरे देशों का तथा मध्यकालीन भारत का, अनुकरणीय दृष्टान्त उपस्थित किया है। आपने कहा है—"मेरा नम्र निवेदन है कि मसजिद के सामने दूसरे धर्म वालों के बाजे के सवाल को धार्मिक रूप नहीं देना चाहिए। हम लोगों के पैगम्बर साहब ईद के दिनों में मसजिद में बाजा बजाने की इजाज़त दिया करते थे; और हजरत आयशा को बाजा सुनने का अनुरोध किया करते थे। मक्का में महमल जुलूस हमेशा मिस्र देश के बैंड के साथ मसजिद के सामने से निकलता था। मुसलमानों के शासन-काल में दिल्ली की जामा-मसजिद के सामने ही रामलीला होती थी, और शाही खानदान के लोग मसजिद में जमा होकर लीला के आम नेताओं को फूल माला पहिनाया करते थे। कलकत्ते में भी मुसलमानों की बरात बाजे-गाजे के साथ उस मकान से निकला करती थी, जिसकी चारदिवारी के भीतर मसजिद थी। अभी भी मुसलमानों के कुछ अखाड़े बाजे के साथ निकलते हैं, और सभी अखाड़े मौला अली दरगाह के सामने, जिसके पास ही मसजिद है, घण्टों बाजा बजाते हैं, और कोई एतराज नहीं करता। इसलिए मेरे विचार में इस सवाल का शरियत के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है, और कुछ स्वार्थी लोगों ने गोहत्या का पलड़ा बराबर रखने के लिए ही अपनी समाज के अनपढ़ आदमियों को भड़काने का आन्दोलन खड़ा किया है। कुछ भाड़े के मौलवी सर्वसाधारण को समझा रहे हैं कि बाजे का सवाल धार्मिक है, और इससे धर्म खतरे में पड़ता है। वे इस खिलवाड़ को इसीलिए जारी रखना चाहते हैं, जिसमें उनकी थैली भरे।"

अल्पसंख्यकों की समस्या; दूसरे देशों में इसका हल— भारतवर्ष में विविध सम्प्रदायों का होना कुछ नयी बात नहीं है, यह हजारों वर्ष से है; परन्तु अल्पसंख्यकों की समस्या इसी जमाने की है; यह अंगरेजों के समय में, और उनकी सहायता तथा कूटनीति से ही पैदा हुई और बढ़ी है। यह उनके लिए हमें पराधीन रखने में सहायक होती है। असल में अल्पसंख्यकों की समस्या के नाम पर जो आन्दोलन यहाँ किया जाता है, उससे किसी सम्प्रदायवालों की कुछ खास भलाई नहीं होती। मानलो, एक सम्प्रदाय के निर्वाचक या वोटर कुछ ज्यादह हो गये, या उसके आदमियों के लिए व्यवस्थापक सभाओं में कुछ स्थान सुरक्षित कर दिये गये, या उन्हें कुछ सरकारी नौकरी या प्रतिष्ठा अधिक मिल गयी तो यह बात मुट्ठी भर लोगों तक ही तो रहेगी; इससे उस सम्प्रदाय के लाखों-करोड़ों आदमियों की दशा नहीं सुधर सकेगी।* इसके खिलाफ, यह सम्भव है कि वे इससे अपनी योग्यता बढ़ाने में कुछ बेपरवाह हो जायँ, और इस तरह अपनी उन्नति में रुकावट डालें। इसके अलावा, इससे दूसरे सम्प्रदायों का अल्पसंख्यकों से द्वेष बढ़ने और सहानुभूति घटने की आशंका होती है।

भारतवर्ष में अल्पसंख्यकता का विचार साम्प्रदायिक भेद के आधार पर किया जाता है; दूसरे देशों में ऐसा नहीं किया जाता, वहाँ जातिभेद के आधार पर ही किसी समुदाय को अल्पसंख्यक माना जाता है। मिसाल के तौर पर जेकोस्लेविया में जर्मन, पोल और हंग-

---

*यदि सरकारी नौकरियों का वेतन बहुत साधारण हो, मानप्रतिष्ठा-सूचक उपाधियाँ केवल उन्हीं लोगों को मिलें जो विशेष समाज-सेवा करें, जैसी की कांग्रेस की नीति है, तो साम्प्रदायिक विरोध का यह कारण स्वयं दूर हो जाय।

रियन अल्पसंख्यक थे, तो जाति-भेद के विचार से, न कि साम्प्रदायिक आधार पर। अच्छा; विशेष अधिकार दिये जाने के विचार से, कैसे समुदाय को अल्पसंख्यक समझना चाहिए? योरप के किसी राज्य में अल्पसंख्यक समुदाय वह माना जाता है, जिसकी कम-से-कम संख्या, वहाँ फी सैकड़ा २० हो। और, इन अल्पसंख्यकों को विशेषाधिकार किस बात में मिलता है? राष्ट्र-संघ (लीग-आफ-नेशन्श) ने विविध राष्ट्रों की सम्मति से जो नियम निर्धारित किये थे उनमें तीन बातें मुख्य मानी गयी थीं—(१) राष्ट्रीयता एक तथा अखंड होनी चाहिए; जिस देश में जिन लोगों की संख्या अधिक है, उन्हीं लोगों की राष्ट्रीयता उस देश की राष्ट्रीयता मानी जानी चाहिए, (२) राज्य का शासन इकट्ठा ही होना चाहिए, इसमें किसी जाति के विशेष प्रतिनिधि न होने चाहिएँ, (३) अल्पसंख्यकों की जो रक्षा हो वह सिर्फ उनके (क) धर्म, (ख) भाषा, और (ग) संस्कृति के ही सम्बन्ध में होनी चाहिए। इन सिद्धान्तों को संसार के बहुत से राज्यों ने अपने यहाँ अमल में ला रखा है।

इस विचार से भारतवर्ष में मुसलमान पूरे देश के सम्बन्ध में ही अल्पसंख्यक माने जा सकते हैं, जहाँ उनकी संख्या फी सैकड़ा २५ हैं। प्रान्तों में से किसी में भी उन्हें अल्पसंख्यक नहीं माना जा सकता। बंगाल और पंजाब में वे बहुसंख्यक है, हिन्दू अल्पसंख्यक है। संयुक्तप्रांत, बिहार आदि में जहाँ हिन्दू बहुसंख्यक हैं, वहाँ मुसलमानों की संख्या बहुत ही कम है, फी सैकड़ा २० भी नहीं। इसी तरह मुसलमानों की, अल्पसंख्यक होने के आधार पर, विशेष अधिकारों की माँग किसी प्रान्त में उचित नहीं ठहरती; पूरे भारतवर्ष के ही सम्बन्ध में उन्हें विशेष अधिकार मिल सकता है; और वह भी धर्म,

भाषा और संस्कृति के सम्बन्ध में।* उन्हें किसी तरह की राजनैतिक पृथक्ता (अलहदगी) का अधिकार नहीं मिल सकता, जैसे पृथक् निर्वाचन, विशेष प्रतिनिधित्व, सरकारी नौकरियों की संख्या तय करना, या प्रान्तों का बँटवारा आदि। इसी प्रकार दूसरे सम्प्रदायों के सम्बन्ध में विचार किया जा सकता है।

भारतवर्ष में पृथक् चुनाव और विशेष प्रतिनिधित्व— कुछ कूटनीति वाले अधिकारियों के इशारे पर अनुदार मुसलमान नेताओं द्वारा यहाँ पृथक् चुनाव और विशेष प्रतिनिधित्व का ज़हर फैलाया गया। उन्होंने हिन्दुओं द्वारा सभाओं में अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार बढ़वा लिया। लखनऊ में मुसलिम लीग और कांग्रेस ने मिलकर सन् १९१६ में जो भावी शासन की योजना बनायी, उसकी बहुत-सी उपयोगी बातों की अवहेलना करके ब्रिटिश सरकार ने उसकी सब से कमज़ोर कड़ी साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को अपना-लिया, और उसे १९१९ के सुधारों में शामिल कर दिया। फिर तो दूर की बात न सोचने वाले मुसलमानों की इस विषय की माँग बढ़ती ही गयी। अब तो कई स्थानों में वे सरकारी नौकरियों और पदों को जाति-गत आधार पर बँटवाना चाहते हैं। दुख की बात है कि अँगरेज शासक उनकी इस राष्ट्र-घातक माँग को उत्तेजना देते रहते हैं। सन् १९३५ ई० का शासन-विधान बनाये जाने के सिलसिले में, ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने निर्वाचन सम्बन्धी जो साम्प्रदायिक फैसला दिया उसके अनुसार भारतीय मतदाता बहुत सी श्रेणियों में बाँट दिये गये हैं। यह स्वराज्य के रास्ते में जान-बूझकर ऐसी बाधाएँ

*कांग्रेस ने, नागरिकों के मूल अधिकारों में यह मान्य किया है। भाषा के सम्बन्ध में विशेष विचार दूसरी जगह किया गया है।

खड़ी करना है, जिन्हें दूर करने में राष्ट्र को बहुत शक्ति और समय खर्च करना होगा ? इस सम्बन्ध में खुलासा विचार हमारी 'निर्वाचन पद्धति' पुस्तक में किया गया है।

शासन-कार्य में साम्प्रदायिकता— शासन सम्बन्धी विषयों में साम्प्रदायिकता का विचार रखा जाना निराधार और हानिकारक है। असल में एक-एक प्रान्त के सब आदमियों के स्वार्थ और हितों में समानता होती है, चाहे वे किसी भी धर्म या सम्प्रदाय के क्यों न हों। मिसाल के तौर पर बंगाल के हिन्दू-मुसलमानों के स्वार्थों में जो समानता है, वह बंगाल के मुसलमानों और संयुक्तप्रान्त के मुसलमानों के स्वार्थों में नहीं हो सकती। 'जूट के निर्यात-कर की आय का अंश बङ्गाल को मिल जाने से, बंगाल के मुसलमानों को भले ही लाभ हो, पर संयुक्तप्रान्त के हिन्दू और मुसलमान किसानों को उससे कोई लाभ नहीं होता। संयुक्तप्रान्त और विहार में शक्कर के नियन्त्रण सम्बन्धी कानून बनने से इन्हीं प्रान्तों के हिन्दू और मुसलमानों को लाभ होता है, उससे सिन्ध, पंजाब या मदरास के हिन्दू या मुसलमान किसानों को लाभ नहीं होता। हरेक प्रान्त की जुदा जुदा राजनैतिक और आर्थिक समस्याएँ हैं, उनका ठीक हल साम्प्रदायिक भेद के आधार पर न होकर सार्वजनिक हित के विचार से ही हो सकता है।'

एकता और समझौते—हम पहले कह चुके हैं कि गाँवों में हिन्दू-मुसलमानों की संस्कृति और रहन-सहन में खास फरक नहीं है; वहाँ इनके झगड़े शुरू नहीं होते, ये झगड़े तो शहरों में आरम्भ होते हैं; और वहाँ से कभी-कभी गाँवों में भी पहुँचने लगते हैं। आचार्य विनोबा ने ठीक लिखा है कि कुछ महत्वाकाँक्षी, बेकार और पढ़े-लिखे लोग दोनों को भिड़ाकर खिलवाड़ करते हैं, और ये लोग प्रायः शहरी

ही होते हैं। ऐसे आदमी जहाँ तक उनका वश चलता है, एकता नहीं होने देते।

बहुत से देश-प्रेमी सज्जन तरह-तरह के सम्प्रदायों में एकता कायम करने के लिए बहुत बेचैन रहते हैं, इसलिए यहाँ समय-समय पर एकता-सम्मेलन हुए और कई बार समझौते हुए। लेकिन अभी सच्ची एकता नहीं हुई। असली एकता वह है जो हर हालत में बनी रहे, चाहे देश में राष्ट्रीय आन्दोलन हो या शान्ति के समय का रचनात्मक कार्य हो। उन लोगों की देशभक्ति में तो संदेह करने का कोई कारण नहीं है, जो जैसे-बने एकता करना चाहते हैं, पर इस 'जैसे-बने' की नीति के मूल में ही दोष है। असल में वही एकता या समझौता सफल और स्थायी होता है, जिसका आधार सबके साथ न्याय हो। विशेषाधिकार के प्रलोभन, या बाजारू मोल-भाव के पक्षपात-पूर्ण समझौते से जो सफलता होती है, वह थोड़ी ही देर रहती है। जिस समूह के साथ एक बार कोई अनुचित रियायत कर दी जाती है, वह साधारण तौर से अपनी अलहदगी और स्वतन्त्रता का अनुभव करने लगता है, उस रियायत को अपना अधिकार समझने लगता है, और पीछे उसे और अधिक बढ़वाने की फिक्र में रहता है। इस तरह उसका असंतोष बना रहता है, और वह एकता में बाधक होता है।

एकता की कोशिश कामयाब न होने का एक कारण यह भी है कि समझौते 'नेताओं' से किये गये, जिन्हें समाज-हित से ज्यादह अपनी नेतागिरी की चिन्ता होती है। ये लोग समझौते के लिए, अमल में न आ सकने वाली शर्तें रखते हैं, साम्प्रदायिकता-पूर्ण भाषण देते या वक्तव्य प्रकाशित करते हैं, और अपनी अलग संस्था बनाये रखकर

अपना मतलब सिद्ध करते रहते हैं। इन नामधारी नेताओंसे समझौता करने में सफलता की आशा छोड़कर राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं को सीधे जनता के सम्पर्क में आना चाहिए; राजनैतिक या आर्थिक कार्यक्रम रखकर लोगों में कार्य करना चाहिए। इस दिशा में कुछ कार्य किया गया है। उसका नतीजा भी बहुत अच्छा हुआ है। यदि कुछ समय लगातार ऐसा काम होता रहे तो मुसलमानों की, राष्ट्रीय कार्य में भाग लेने की, प्रवृत्ति या झुकाव बढ़े; साथ ही वे अपने ऊपर से पुराने, साम्प्रदायिक नेताओं की नेतागिरी का भार उतार फेंकने में भी समर्थ हों।

महात्मा गांधी ने सन् १९२४ में साम्प्रदायिक दंगों से दुखी होकर २१ दिन का अनशन किया। इस अवसर पर एकता-परिषद् हुई, जिसमें गम्भीरतापूर्वक विचार-विमर्श हुआ। सन् १९३२ में महात्मा जी ने ब्रिटिश प्रधान मन्त्री के उस 'साम्प्रदायिक निर्णय' के विरोध में आमरण अनशन किया, जिससे हरिजनों को अलग मताधिकार देकर हिन्दुओं से जुदा करने की कोशिश की गयी थी। महात्माजी के अनशन से पूना का समझौता हुआ, उसके अनुसार यह व्यवस्था की गयी कि हरिजनों के लिए व्यवस्थापक सभाओं में निर्धारित अनुपात में स्थान सुरक्षित रखे जायँ; उनका अलग चुनाव न हो। महात्माजी के अलावा कुछ दूसरे महानुभावों ने भी भारतीय समाज में एकता स्थापित करने के लिए बहुत कोशिश की है। परन्तु ऐसे नेता देश में कुल मिलाकर कितने हैं!

एकता स्थापित होने में एक खास बाधा हमारी पराधीनता है। विदेशी शासक ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्तों की बातें करते हुए भी अकसर दिल से यह नहीं चाहते कि देश से अनेकता और फूट दूर हो; इसी

के सहारे तो वे यहाँ जमे हुए हैं। जब कभी कोई समझौते की बात उठती है कि वे चौकन्ना हो जाते हैं। ताजी मिसाल मौजूद है। सन् १९४४ में गांधी-जिन्ना वार्तालाप शुरू होने के जरा ही पहले लार्ड वेवेल ने गांधीजी को साफ लिख दिया था कि अगर कांग्रेस और मुसलिम लीग में समझौता हो जाय तब भी अछूत, देशी राज्य, सिक्ख, और दूसरे अल्प मत वाले मौजूद हैं। इस भेद की खाई को पार करने का, जैसा कि 'विश्ववाणी' ने लिखा है, सिर्फ एक ही रास्ता है, और वह वही है जो कबीर, नानक, दादू, तुकाराम, चैतन्य, शाह कलन्दर, चिश्ती, बाबा फरीद आदि सैकड़ों हिन्दू और मुसलमान सन्त हमें बता गये हैं। वह रास्ता प्रेम का रास्ता है, विश्वास का रास्ता है, भाईचारे का रास्ता है, स्वार्थ से ऊपर उठने का रास्ता है, समन्वय का रास्ता है, त्याग का रास्ता है, और एकता का रास्ता है।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद भरसक यह कोशिश करेगा कि हमारे बीच में समझौता न हो। इस लिए जल्दी उससे छुटकारा पाने, और स्वाधीनता या आजादी हासिल करने की कोशिश की जा रही है; इस पर खुलासा विचार आगे किया जायगा। जो हो, साम्प्रदायिक मतभेद की बात ऊपरी है; खास सवाल आर्थिक और राजनैतिक है। जब जनता पूरी तरह जग जायगी, और स्वार्थी नेताओं की बातों में आना छोड़ देगी, तो वह मिलकर सब के कष्ट हटाएगी और राष्ट्रीय उन्नति करेगी; तब साम्प्रदायिक समस्या खुद ही मिट जायगी।

हमें यह अनुभव करना चाहिए कि हम चाहे जिस सम्प्रदाय आदि के क्यों न हों; भारतवर्ष में रहने के नाते हम सब भारतीय हैं, और भारतवर्ष की भलाई में हम सब की भलाई है; अलग-अलग

जातियों या सम्प्रदायों का हित-साधन करने में किसी का भी कल्याण नहीं है। हमें जाति और सम्प्रदाय के विचारों को छोड़कर राष्ट्रीय भावों का प्रचार करना चाहिए; इस विषय में खुलासा आगे लिखा जाता है।

सातवाँ परिच्छेद

राष्ट्रीय भावों का प्रचार

नसों में रक्त भारत का उदर में अन्न भारत का।
करों में कर्म भारत का, हृदय में मान भारत का॥ १॥
तजे भय शोक व लज्जा, बुरी है सौख्य की सज्जा।
कहो हाँ, मांस अरु मज्जा, सभी तन प्राण भारत का॥ २॥

—राधामोहन गोकुलजी

"मैं भारतवर्ष के उजड़े हुए खंडहर का ज़र्रा हूँ।
"यही पूरा पता मेरा, यही है कुल निशां मेरा॥
"अगर ये प्राण तेरे वास्ते, ए देश! नहिं जावें।
"तो इस हस्ती के तख्ते से, मिटे नामोनिशां मेरा॥"

प्राक्कथन—पहले बताया जा चुका है कि भारतवर्ष में एकता के साधन काफी मौजूद हैं। वे साधन राष्ट्रीयता में सहायक तो जरूर हैं, परन्तु उन सब के होते हुए भी एक बात ऐसी है, जिसके न होने से राष्ट्र मानो बिना 'ड्राइवर' की मोटर कहा जा सकता है। वह बात है, भावों की एकता, अथवा राष्ट्रीय भावना। राष्ट्र का हरेक आदमी दूसरे के सुख को अपना सुख समझ कर उसे बढ़ाने में सहायक हो; इसी तरह हरेक आदमी दूसरों के दुख को अपना दुख

मानकर उसको हटाने के लिए तैयार रहे। इस प्रकार के भावों के प्रचार से राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने में बहुत सहायता मिलती है। इस विषय का विचार करने के लिए पहले स्वदेशानुराग या अपने वतन की मोहब्बत की बात लें।

स्वदेशानुराग—चाहे कितने ही गुणों वाला क्यों न हो, जिस मनुष्य को स्वदेश से अनुराग नहीं, अपनी जाति और भाषा से प्रेम नहीं, वह मनुष्य जीता हुआ भी मरे हुए के बराबर है, और पशु से भी गया-बीता है। अंगरेज महाकवि स्काट कहता है—"जिस आदमी ने अपनी जननी-भूमि से हार्दिक प्रेम नहीं किया है, वह चाहे जितना धनवान, ज्ञानवान, और बुद्धिमान क्यों न हो, वह अपनी जाति का आदर और प्रेम नहीं पा सकता। जब तक वह जीता है उसके भाई बन्धु उससे घृणा करते हैं, उसके मरने पर उसकी इस लोक में निन्दा होती है; उसकी आत्मा को कभी शान्ति नहीं मिलती।" सभ्य संसार में, उन्हीं देशों की गिनती होती है, जिनके निवासी स्वदेशानुराग में पगे हुए हों।

फिर क्यों न हम अपने देश के अनुराग या मोहब्बत में रंग जायँ ? हमें घूमफिर कर विविध स्थानों की यात्रा करके अपनी मातृ-भूमि का दर्शन करना चाहिए। हमारा देश अच्छे जलोंवाला, चन्दन से शीतल हरे-हरे खेतों वाला, सफेद चाँदनीवाली निखरी हुई रातों-वाला, और खुशबूदार फूलों से लदे हुए पेड़ों वाला है। यह प्रकृति देवी का बहुत प्यारा क्रीडास्थल है। क्या आसमान को छूनेवाली पर्वत-श्रेणी, क्या ऊँची लहरें लेता हुआ नीले जल वाला अथाह समुद्र, क्या वृक्ष, लता, पत्र, पुष्प वाले बाग बगीचे, क्या जङ्गली पशुओं से भरे हुए वन उपवन क्या बड़े-बड़े महलों से शोभायमान नगर, क्या हरे

भरे खेतों से घिरे हुए गाँव, क्या साधु संन्यासियों के योगाश्रम—किसी भी दृश्य की हमारे देश में कमी नहीं है। भारत भूमि सारे जगत की प्रदर्शनी या नुमायश कही जा सकती है। संसार की बढ़िया से बढ़िया चीजें प्रकृति ने यहाँ लाकर रख दी हैं; हमारी मातृभूमि जगत के ज्ञान, सभ्यता और धर्म की जननी या माता है।

हिन्दुओं के प्राचीन शास्त्रकार कहते हैं कि मनुष्य बहुत पुण्यफल से इस पवित्र कर्मभूमि भारतवर्ष में जन्म लेता है। बहुत से मुसलिम महापुरुषों की समाधियाँ और अनेक मुसलमानों की शक्ति, सभ्यता और गौरव की अनगिनत यादगारें रखने के कारण, यह भूमि मुसलमानों के लिए भी पवित्र हो गयी है।

क्या हमारे देश में महाराज हरिश्चन्द्र जैसे सत्यवादी या सच बोलने वाले, राजा रामचन्द्र जैसे आज्ञापालन करने वाले, महात्मा कृष्ण जैसे योगी, पितामह भीष्म जैसे दृढ़ प्रतिज्ञा वाले, गौतम बुद्ध जैसे सुधारक, कणाद व पातञ्जली जैसे दार्शनिक, युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा, प्रताप, शिवाजी, हैदर और टीपू जैसे वीर, दयानन्द और शंकराचार्य जैसे बाल-ब्रह्मचारी, तथा अशोक, अकबर, मीरकासिम जैसे प्रजा-प्रेमी शासक पैदा नहीं हुए हैं? क्या हमारी भाषा में सूर, तुलसी, केशव, रहीम, मलिकमोहम्मद जायसी और हरिश्चन्द्र सरीखे महाकवि नहीं हुए हैं? जब किसी बात में भी हमारा देश दूसरे देशों से, हमारी जाति दूसरी जातियों से, तथा हमारी भाषा दूसरी भाषाओं से कम नहीं, तो हम अपने देश, अपनी जाति तथा अपनी भाषा से प्रेम करने में दूसरों से पीछे क्यों रहें!

भारत माता और उसकी सेवा—देशप्रेम के लिए यह जरूरी है कि लोगों को स्वदेश के पूरे रूप की कल्पना हो; वे उसके किसी

खास हिस्से को ही जन्मभूमि या मातृभूमि न मानें। हालाँकि यहाँ प्राचीन काल में धार्मिक और साँस्कृतिक एकता बनाये रखने की अच्छी कोशिश हुई, मध्यकाल में अलग-अलग हिस्सों के निवासियों का दृष्टिकोण बहुत संकुचित या तंग रहा। असल में अब से कुछ समय पहले तक लोगों ने भारत माता के पूरे रूप के दर्शन बहुत कम किये। ज्यादहतर आदमियों ने उसके एक-एक हिस्से की ही कल्पना की। वे प्रान्तीयता या जातीयता से ऊँचे नहीं उठ सके। किसी ने केवल हिन्दू माता का दर्शन किये, किसी ने पंचनद माता के, किसी ने बंग माता के। इस समय भी हिन्दू राष्ट्र की पुकार सुनने में आती है। सन्तोष का विषय है कि अब विचारशीलों का दृष्टिकोण उदार और व्यापक होता जा रहा है, और सर्वसाधारण अधिकाधिक संख्या में भारत माता के पूरे स्वरूप का विचार करने लगे हैं।

इस ज़माने में, इस दिशा में, सबसे पहले पथ-प्रदर्शक या रहनुमाओं में स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ मुख्य हैं। स्वामी राम ने कहा है कि भारतवर्ष वह शरीर है, सुदृढ़ केमोरिण जिसके चरण हैं; हिमालय जिसका उच्च सिर है परम पवित्र गंगा और ब्रह्मपुत्र जिसके मस्तक से निकली हैं, विन्ध्याचल जिसकी कमर में बँधा हुआ कमरबन्द है, कारोमण्डल और मालाबार जिसकी दाई और बाईं भुजाए हैं, जो सब मानव जति से प्रेम करने को फैली हैं।"

स्वामी राम का यह भी कथन है कि जैसे शैव शिव की पूजा करता है, वैष्णव विष्णु की, ईसाई ईसा की और मुसलमान मोहम्मद की उपासना करता है; वैसे प्रेम में लीन होकर मैं भारत के दृश्य को अपने हृदय में लाकर उसकी पूजा करता हूँ। जिस समय मुझे कोई भारतवासी दिखलायी पड़ता है, चाहे वह शैव हो या वैष्णव, ईसाई हो या मुसलमान, पारसी हो या सिक्ख, संन्यासी हो अथवा परिया, भारत माता के हर एक लाल को मैं मूर्तिमान

भारत ही समझकर उसकी पूजा करने लगता हूँ। हे भारत माता! मैं तेरे हर एक रूप में तेरी उपासना करता हूँ। तू ही मेरा इष्ट-देव है, तू ही मेरा सालिग्राम है।"

जननी जन्मभूमि का हम पर कितना ऋण या उपकार है! उसकी गोद में हम पले हैं, उसके अन्न जल से हमारा शरीर मज़बूत हुआ है, उसके मधुर फलों का हमने स्वाद लिया है, उसके घी-दूध से हमारा बल बढ़ा है। उसके कपास और ऊन ने हमारा तन ढका है। उसने हमारा मल-मूत्र सहा है, वह हमारी माँ की भी माँ है, वह हमारे अन्तकाल में हमारे भौतिक शरीर को आश्रय देगी। ऐसी आदर्श माता को कोई विवेकशील आदमी कैसे भुला सकता है! हमें उसके तरह तरह के उपकारों की याद कर यथासंभव उससे उऋण होने की कोशिश करनी चाहिए।

"क्योंकर भला हो मुमकिन, तकलीफ़ न उठाएँ।
"बच्चे सपूत जो हों, बीमार माँ की ख़ातिर॥
"सौ बार गर जनम हो, तो भी यही धरम हो।
"मर जाँयगे, मरेंगे, हिन्दोस्तान की ख़ातिर॥"

राष्ट्रीय जयन्तियाँ और त्योहार—राष्ट्रीय भावनाओं के प्रचार के लिए यह ज़रूरी है कि हम साम्प्रदायिकता या प्रान्तीयता के संकुचित विचारों से ऊपर उठें; उदारता, सहिष्णुता, धार्मिक स्वतंत्रता, विचार-स्वतंन्त्रता तथा देशभक्ति, त्याग और बलिदान आदि अच्छे अच्छे गुणों की महिमा समझें। इसका एक असली उपाय है, आदर्श वीरों या राष्ट्रीय महानुभावों का आदर करना, उनकी जयन्तियाँ मनाना। कैसा दुर्भाग्य है कि हम लोगों ने दूसरी चीजों की तरह उनका भी बँटवारा कर लिया है; यह महापुरुष हिन्दुओं का है, यह मुसलमानों या

ईसाइयों का! इस तरह कुछ आदमी सोचते हैं कि यह महापुरुष बंगालियों के लिए आदरणीय है, और यह महात्मा पंजाब या महाराष्ट्रवालों के लिए है।

आवश्यकता है कि हम देश के हरेक महापुरुष, सुधारक, तपस्वी, त्यागी और सेवा-भाववाले महात्मा के गुणों का आदर करें, उसके आदर्श को सामने रखें, हर वर्ष उसकी जयन्ती मनाकर जनता को उसके शिक्षाप्रद चरित्र को याद कराते रहें। ऐसी जयन्ती मनाने में हमें चरित्रनायक के वंश, जाति, धर्म या प्रान्त के भेद-भाव का विचार न करना चाहिए। हिन्दुओं को मुसलमान और इसाई महापुरुषोंकी जयंतियों तथा त्योहार में खूब उत्साह से भाग लेना चाहिए। ऐसा ही निवेदन हम अपने मुसलमान और ईसाई आदि भाइयों से करते हैं। उनकी नजर अब संकुचित या तंग न रहकर उदार होनी चाहिए। इसके लिए जरूरी है कि सब धर्मों के आचार्य तथा नेता जनता को उचित रास्ता दिखावें।

श्री० पीरमुहम्मद 'मूनिस' ने क्या अच्छा कहा है—हिन्दुस्तान के बुजुर्ग श्री रामचन्द्र और श्रीकृष्णचन्द्र भी अपने वक्त में पैगम्बर और रसूल गुजरे हैं। फिर क्यों न हम मुसलमान इन हिन्दुस्तानी रसूलों का अपने नजदीक वही दर्जा और इज्जत तसलीम करें, जो हजरत मूसा, हजरत ईसा वगैरह की किया करते हैं। अगर हक़ीक़त में यह सच्चा भाव, राष्ट्रीयता ही के लिहाज से क्यों न हो, हमारे मुसलिम भाइयों के नजदीक आ जाय, तो मुझे बहुत-कुछ उम्मीद है कि आज दिन इन दोनों 'महान् जातियों में जो इतनी बड़ी विभिन्नता नजर आ रही है, वह कुछ दिनों के बाद देखने में न आयेगी; और दोनों जातियाँ एक दूसरे की सभ्यता और संस्कृति की क़द्र करने लग जायँगी।

"आज हिन्दुस्तान का महान् राष्ट्रीय त्योहार (विजय दशमी) है, जिस पर हम दोनों जातियाँ, जितना फ़ख्र करें, थोड़ा है। इसी दिन श्री रामचन्द्र

जी ने भारत की शान के लिए सचाई के सिद्धांत के लिए मज़लूमों की हिमायत और जातियों के जुल्म का बदला लेने के लिए लंका फ़तह की, और रावण को हलाक (वध) किया। यह त्योहार भारत की नैतिक विजय का त्योहार है। इसने दुनिया में इस सचाई को सदा के लिए कायम किया कि पाप पर पुण्य की, असत्य पर सत्य की, अधर्म पर धर्म की, पशुबलवाले पर निर्बल की, पापात्मा पर पुण्यात्मा की विजय होती है, और होती रहेगी। ऐसे पवित्र दिन को क्या राष्ट्रीय त्योहार का दिन मानना उचित नहीं है !"

इसी तरह मराठे महापुरुषों का जयन्ती-उत्सव महाराष्ट्र के बाहर, तथा पंजाब के महापुरुषों का उत्सव पंजाब के बाहर, और मदरास के महापुरुषों का जयन्ति-उत्सव मदरास के बाहर भी—मतलब यह कि हरेक प्रान्त के महापुरुषों का उत्सव उस प्रान्त के बाहर भी देश-भर में उत्साह और जोश के साथ मनाया जाना चाहिए। इससे राष्ट्रीयता और मानवता का भाव उदय होने में बड़ी सहायता मिलेगी और राष्ट्र-संगठन का कार्य बहुत सुगम और प्रशस्त होगा।*

दूसरे उपयोगी कार्य—राष्ट्रीय भावों के प्रचार के लिए दूसरे उचित उपायों तथा अवसरों का भी उपयोग करते रहना चाहिए। मिसाल के तौर पर हम अपने त्योहारों, उत्सवों और मेले तमाशों के अवसर पर तरह तरह से जनता में राष्ट्रीय भाव भर सकते हैं; मेलों में उपयोगी विषयों पर अच्छे-अच्छे भाषण करा सकते हैं, नशीली चीजों की मनाही, अस्पृश्यता-निवारण, स्वदेशी-वस्तु-प्रचार, समाज सुधार आदि के विषयों पर मन बहलाने वाली बातचीत या प्रश्नोत्तर

*इस विषय में हमारी 'श्रद्धाञ्जली' पुस्तक पढ़नी चाहिए, उसमें हिन्दू, मुसलमान और ईसाई, देशी और विदेशी, पूर्वी और पश्चिमी सभी प्रकार के महापुरुषों के प्रति आदर और श्रद्धा ज़ाहिर की गयी है।

(सवाल जवाब) कर सकते हैं, या सुन्दर दृश्य दिखा सकते हैं। मैजिक लालटेन, सिनेमा, और नाटकों आदि से सर्वसाधारण के मन में राष्ट्रीय आदर्शों की अच्छी छाप बैठायी जा सकती है। राष्ट्रीय गान बनवाकर उनका प्रचार करने से भी राष्ट्रीय भावों के प्रचार में बड़ी मदद मिल सकती है। सरल भाषा के मनोहर गाने बालकों को बहुत जल्दी याद हो जाते हैं, वे उन्हें सड़कों और बाजारों में गाते रहते हैं, इससे उनमें ही नहीं, सुननेवालों में भी देश-प्रेम की भावना जागृत होती है।

हमारे बहुत से भाई नित्य पूजा-पाठ करते हैं, अपने-अपने इष्ट देवी-देवता की याद और स्तुति करते हैं। देश-प्रेमी सज्जनों को चाहिए कि जननी-जन्मभूमि की पूजा और वन्दना करना अपना नित्यकर्म बनावें। वे शुद्ध उदार हृदय से भारत माता की प्रार्थना करें, उसकी प्राचीन गौरव-गाथा का पाठ पढ़ें, वर्तमान जरूरतें पूरी करने का संकल्प करें, उसके आशामयी भावी स्वरूप का चित्र अपने चित्त में जमावें और सुयोग्य माता के सुयोग्य पुत्र बनने के लिए जी-जान से उद्योग करें।

[इस प्रकार के मातृभक्ति के भावों का प्रचार करने में भारतीय ग्रन्थ-माला में प्रकाशित 'मातृवन्दना' पुस्तक बहुत सहायक होगी।]

राष्ट्रीयता के भावों को स्थूल रूप देने का भी ध्यान रखा जाना आवश्यक है। इसके लिए हमें और-और बातों में स्वदेशी-प्रचार की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। हम ऐसी कोशिश करें कि हमारे उदाहरण और अनुरोध से सर्वसाधारण स्वदेशी का व्रत धारण करें। वे यथा-संभव अपनी समस्त आवश्यकताओं को भारत में ही बनी हुई वस्तुओं से पूरा करें। आजकल शुद्ध स्वदेशी खद्दर के प्रचार का

आन्दोलन हो रहा है; इस एक ही स्वदेशी वस्तु के व्यवहार से यहाँ के करोड़ों रुपयों का प्रति वर्ष विदेश जाना रुक गया है। अभी आन्दोलन की और भी बहुत आवश्यकता है। खेद है, बहुत-से भाइयों को हाथ से कते सूत का, और हाथ से बुना हुआ खद्दर मानो काँटेकी तरह चुभता है; नजाकत की हद होगयी! आशा है, इसमें यथेष्ट सुधार होगा। विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। जब हमारे मन में राष्ट्रीय भावों के प्रचार की लगन होगी तो देश-काल के अनुसार हमें उसके तरह तरह के उपाय भी सूझ जाँयगे।

आठवाँ परिच्छेद

राष्ट्रीय झंडा और गीत

यह झण्डा खेल मत समझो, यही मुल्की निशानी है।
इसी के आसरे मुल्कों में क़ौमी क़दरदानी है॥
समझलो मुनहसिर इस पर, ही यारो ज़िन्दगानी है।
कटाकर सर भी अपना, फ़र्ज इसकी निगहबानी है॥
उठो आगे बढ़ो, इसकी बचालो शान ए यारो।
'बहादुर' जान रखते हो, तो इस पर जान को वारो॥

माँ की माँ है, जन्मभूमि सब की पूज्यतम्!
सब मिल कहिए, प्रेम से बस वन्देमातरम्॥

राष्ट्रीय भावों के विकास के लिए हरेक राष्ट्र का एक खास तरह का झंडा होता है। इससे यह पता लगता है, कि उस राष्ट्र में जीवन है, एकता है, और स्वतंत्रता-प्रेम यानी आज़ादी की मोहब्बत

है। अक्सर यह झंडा यह भी बतलाता है कि उस राष्ट्र की संसार के दूसरे देशों से क्या विशेषता है, उसका क्या आदर्श और लक्ष्य है। झण्डे का और राष्ट्रनिवासियों का आपसी सम्बन्ध होता है। राष्ट्र के आदमी अपने झंडे में बड़ी श्रद्धा और भक्ति रखते हैं, और उसके सम्मान या इज्जतकी रक्षाके लिए अपना जीवन तक न्यौछावर करते हैं; यह झंडा भी वहाँ रहनेवालों में उत्साह, साहस और वीरता के प्रबल भावों का संचार करता है। राष्ट्रीय झंडे के नीचे आकर देशवालों के सब भेद-भाव नष्ट हो जाते हैं, और सब आदमी राष्ट्र-प्रेमी होने का प्रमाण देते हैं। अँगरेज़ अपने 'यूनियन जेक' के लिए आवश्यकता होने पर अनेक वीरों की बलि देने को तैयार रहते हैं। अमरीका वाले अपने 'तारा-पट' को देखकर गद्गद् हो जाते हैं। जापान ने अपने 'उगते हुए सूर्य' वाले झंडे के गौरव की रक्षा के वास्ते रूस-जापान युद्ध में कितना अनुपम त्याग किया था, यह पाठकों से छिपा नहीं है। 'अर्द्ध-चन्द्र' वाला झंडा देखकर तुर्कों की नस नस में नया खून जोश मारने लगता है। इसी तरह सभ्य और उन्नत कहने वाले दूसरे राष्ट्रों का उदाहरण दिया जा सकता है।

भारतवर्ष का राष्ट्रीय झंडा—भारतवर्ष के झंडे का इतिहास बहुत पुराना है। श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन 'कपिध्वज' कहा गया है; इससे मालूम होता है कि महाभारत-काल में झण्डा हनुमान के चित्र वाला भी होता था। अशोक का झण्डा गेरुआ था। गुप्तकाल में गरुड़-ध्वजा का उपयोग होता था, जो वैष्णव मत का निशान है। महाराणा प्रताप के लाल झण्डे पर सिंह का, और शिवा जी के झंडे पर भवानी और तलवार का चित्र था। पिछली सदियों में, देश में कोई एक ऐसा झण्डा नहीं रहा, जिसे सब लोग अपनायें। यह बात पहले

पहल प्रवासी भारतीयों को बहुत खटकी। राष्ट्रीयता के भावों के उदय होने पर विचारशील भारतवासियों के मन में अपना एक राष्ट्रीय झंडा बनाने का विचार पैदा हुआ। कई नमूने सामने आये। उन पर कई तरह से विचार हुआ। सन् १९२१ में म० गान्धी ने यह राय दी कि भारतवर्ष के राष्ट्रीय झंडे में सफेद, हरा और लाल रङ्ग रहे। लाल रंग हिन्दुओं को जाहिर करने वाला हो, हरा मुसलमानों को, और सफेद दूसरे सब धर्मों को। कमजोर सम्प्रदायों के रंग को झंडे में पहले स्थान मिले, उसके बाद मुसलमानी रंग को और उसके बाद हिन्दू रंग को। इसका मतलब यह है कि बलवान ही निर्बलों के रक्षक का काम करेगा, इसके अलावा सफेद रंग शान्ति और पवित्रता की भी निशानी है। छोटे और बड़ों में समानता जाहिर करने के लिए तीनों रङ्गों को बराबर बराबर जगह दी जाय।

"इस झंडे के एक ओर चर्खे का चित्र हो। भारतवर्ष एक महादेश है जो इङ्गलैंड की तरह सहज ही में औद्योगिक देश नहीं बनाया जा सकता। हमारी एकमात्र आशा राष्ट्र के दुरुपयोग किये हुए समय का सदुपयोग करना ही होनी चाहिए, जिससे हम अपनी झोपड़ियों में रुई से कपड़े बनाकर देश के धन को बढ़ा सकें। इसी के द्वारा हम सारे संसार को सूचित करते हैं कि हमने अब भोजन वस्त्र के सम्बन्ध में किसी पर ज़रा भी निर्भर न रहने की ठान ली है। झंडा खद्दर का हो, क्योंकि भारत मोटे कपड़े द्वारा विदेशी बाजारों से स्वाधीन हो सकता है। यदि धार्मिक संस्थाएँ इस तर्क से सहमत हों तो वे अपने धार्मिक झण्डों में भी इसे रखें।"

जगह जगह इस नमूने के राष्ट्रीय झण्डे बनाये गये। कांग्रेस-कमेटियों के दफ्तरों पर, उन म्युनिसपेलटियों के दफ़्तरों पर, जिनमें राष्ट्रीय दल प्रधान था, और बहुत से मकानों पर ऐसे झण्डे फ़हराने लगे। मान्यवर नेताओं के अभिनन्दन, स्वागत-सत्कार और जलूसों में ऐसा झण्डा बहुत जरूरी माना जाने लगा।

अधिकार-प्रेमी अधिकारियों को हमारी राष्ट्रीयता बढ़ाने वाली दूसरी बातों की तरह इस राष्ट्रीय झण्डे की योजना और प्रचार से भी चिढ़ होना स्वाभाविक था। उन्होंने झण्डा निकालने वालों पर तरह-तरह के दोष लगाये और उन्हें 'कानूनी' धाराओं का शिकार बनाया। लेकिन इन बातों से लोगों में राष्ट्रीयता का प्रेम बढ़ता ही गया। सन् १९२३ ई० में नागपुर का सुप्रसिद्ध झण्डा-सत्याग्रह हुआ; अनेक नवयुवक और महिला स्वयंसेविकाएँ झण्डे की इज्जत के लिए खुशी-खुशी जेल गयीं, उन्होंने लाठी-वर्षा आदि के कष्ट सहे, पर झण्डा ऊंचा ही रखा। उस वर्ष कोकोनाडा में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ; उसमें राष्ट्रपति मौलाना मोहम्मदअली ने यह राष्ट्रीय झण्डा फहराया। उस समय से हर साल कांग्रेस में राष्ट्रीय झण्डा फहराया जाने लगा; प्रान्तीय राजनैतिक या राष्ट्रीय सभा-समितियों के अधिवेशनों का भी यह एक आवश्यक कार्यक्रम हो गया।

सन् १९२४ ई० से पहले राष्ट्रीय झण्डा-वन्दन अर्थात् झन्डे की सलामी का कोई निश्चित ढंग नहीं था। उस वर्ष हिन्दुस्तानी सेवादल ने इसके नियम बनाये; उनका हर जगह पालन किया जाता है। सन् १९२८ ई० में यह निश्चय हुआ कि हर अंगरेजी महीने के आखिरी रविवार को सवेरे ही हर जगह कांग्रेस में झण्डा-वन्दन किया जाय। इस बीच श्री० श्यामलाल जी पार्षद ने 'झण्डा ऊँचा रहे हमारा' झण्डा-गान बनाया; यह सब से पहले सन् १९२५ ई० में कानपुर की कांग्रेस में गाया गया था; तब से राष्ट्रीय संस्थाओं में बराबर गाया जाता है।

झंडा गान

झंडा ऊँचा रहे हमारा।
विजयी विश्व तिरंगा प्यारा॥

सदा शक्ति बरसानेवाला, प्रेम-सुधा सरसानेवाला;
वीरों को हरषानेवाला, मातृभूमि का तन मन सारा।
झंडा ऊँचा रहे हमारा ॥१॥

स्वतन्त्रता के भीषण रण में, लखकर जोश बढ़े क्षण क्षण में;
काँपे शत्रु देख कर मन में, मिट जावे भय संकट सारा।
झंडा ऊँचा रहे हमारा ॥ २ ॥

इस झंडे के नीचे निर्भय, लें स्वराज्य वह अविचल निश्चय;
बोलो भारत माता की जय, स्वतन्त्रता हो ध्येय हमारा।
झंडा ऊँचा रहे हमारा ॥ ३ ॥

आओ, प्यारे वीरो आओ, देश-धर्म पर बलि-बलि जाओ;
एक बार सब मिल कर गाओ, प्यारा भारत देश हमारा।
झंडा ऊँचा रहे हमारा ॥ ३ ॥

शान न इसकी जाने पाये, चाहे जान भले ही जाये;
विश्व विजय करके दिखलाये, तब होवे प्रण पूर्ण हमारा।
झंडा ऊँचा रहे हमारा ॥ ५ ॥

उस समय राष्ट्रीय झण्डे के रंग अलग-अलग जातियों को बतलाने वाले थे; और स्वतन्त्र रूप से रंग हिन्दुओं और मुसलमानों के ही थे। इससे दूसरे लोगों को एतराज होने लगा। सिक्ख आदि जातियों ने अपने-अपने अलग-अलग रंगों को झण्डे में स्थान दिये जाने की माँग की। अन्त में सन् १६३१ में फिर बहुत विचार-विनिमय हुआ। पीछे कांग्रेस-कार्य-समिति ने निश्चय किया कि राष्ट्रीय झण्डे के रंग जातियों या धर्मों के नहीं, गुणों के जाहिर करने वाले माने जायँगे। इस विचार से झण्डे में तीन रङ्ग रखे गये; ऊपर की पट्टी केशरी रंग की, धैर्य और त्याग बतानेवाली; बीच की पट्टी सफेद रंग की, सत्य और शान्ति बताने वाली; नीचे की पट्टी हरे रंग की,

विश्वास और प्रताप बतानेवाली। बीच की सफेद पट्टी पर गहरे नीले रङ्ग का चर्खा बनाये जाने का निश्चय किया गया। साथ ही यह भी तय किया गया कि झण्डे की लम्बाई और चौड़ाई में तीन और दो का अनुपात रहे, और झण्डे का कपड़ा खादी अर्थात् हाथ का कता और हाथ का बुना सूती, रेशमी या ऊनी होना चाहिए।

सन् १९३५ ई० के विधान के अनुसार सन् १९३७ से १९३९ तक गवर्नरों के ग्यारह प्रान्तों में से आठ में, कुछ अधूरा ही सही, कांग्रेस-शासन रहा। इस समय इन प्रान्तों में सरकारी इमारतों पर भी तिरङ्गा झण्डा फहराया गया। यह निश्चित है कि यह राष्ट्रीय झण्डा निकट भविष्य में सारे भारत के लिए सरकारी झण्डा हो जायगा। लेकिन अभी ऐसा नहीं है। जाति, समूह या सम्प्रदायों की विभिन्नता झण्डों की अनेकता में प्रकट हो रही है। साधुओं और महन्तों को तो मानो राष्ट्रीय पताका से कुछ मतलब ही नहीं; कुछ हिन्दू केवल भगवा झण्डे की याद बनाये रखना चाहते हैं, बहुत से आर्यसमाजियों को सिर्फ ओ३म् का झण्डा प्यारा है, तो किसान और मजदूरों को रूस का लाल झण्डा ही अच्छा लगता है। इनके अलावा बहुत से साम्प्रदायिक मुसलमान ऐसे हैं, जो राष्ट्रीय झण्डे को एक दल विशेष का झण्डा समझते हैं, और अपना झण्डा अलग रखते हैं, अथवा इंगलैंड के राष्ट्रीय झण्डे 'यूनियन जेक' को सिर नवाते हैं। वे भूल जाते हैं कि 'यूनियन जेक' तो ब्रिटिश साम्राज्य के सब स्वाधीन उपनिवेशों का भी राष्ट्रीय झण्डा नहीं है,* और वह हमारे लिए तो पराधीनता को ही जाहिर करने वाला है।

*दक्षिण अफ्रीका की यूनियन-सरकार ने सन् १९२७ ई० से ही कानून पास करके, 'यूनियन जेक' के साथ अपना एक अलग राष्ट्रीय झण्डा भी निश्चित कर रखा है। आयरिश फ्री स्टेट का राष्ट्रीय झण्डा तो जुदा है ही।

यह तो जनता की बात हुई। इसके अलावा हमारे देशी राजाओं का रुख भी ठीक नहीं है। जब तक भारत में अंगरेजों का राज्य है, दूसरे जी-हजूरों की तरह ज्यादहतर राजाओं से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे राष्ट्रीय झंडे का सरकारी झंडे की तरह आदर करेंगे, परन्तु क्या वे यह भी नहीं कर सकते कि कम-से-कम इस झंडे का अपमान तो न करें? राजाओं को सोचना चाहिए कि उनके राज्यों की प्रजा की, इस राष्ट्रीय झंडे के प्रति सहानुभूति ही नहीं है, भक्ति-भाव है; यदि राजा इस झंडे का विरोध करते हैं तो प्रजा को उत्तेजना होती है; और निकट भविष्य में सार्वभौम सत्ता का स्थान पाने वाली राष्ट्र-सभा कांग्रेस की भी उनके प्रति बुरी भावना बनती है। इसलिए उन्हें दूरंदेशी से राष्ट्रीय झंडे के प्रति सद्भावना का परिचय देना चाहिए। राष्ट्रीयता का तकाजा है कि हरेक स्त्री पुरुष, चाहे वह किसी भी जाति, समूह, या सम्प्रदाय आदि का हो, राष्ट्रीय पताका का आदर-मान करे; और, किसी भी हालत में राष्ट्रीय झंडे को नीचा न होने दे।

राष्ट्र-गीत; वन्देमातरम्

संसार के हरेक देश में राष्ट्रीय झंडे की तरह राष्ट्र-गीत का भी बहुत आदर होता है। हरेक स्वाभिमानी राष्ट्र का अपना-अपना राष्ट्र-गीत है, जो सार्वजनिक उत्सवों तथा सभाओं आदि में गाया जाता है, और वहाँ सुननेवालों में जीवन और उत्साह का संचार करता है। हमें यहाँ भारतवर्ष के राष्ट्र-गीत के विषय में विचार करना है। यद्यपि यहाँ 'वन्देमातरम्' की रचना किसी संस्था द्वारा, राष्ट्र-गीत के रूप में, नहीं की गयी, और न उसके प्रचार के लिए कोई खास सरकारी या गैर-सरकारी आन्दोलन ही हुआ, तो भी यह वह गीत है

जिसने उत्तर से दक्षिण तक लोगों को देशभक्ति तथा वीरता के भावों से ओतप्रोत कर दिया है; जिसने हज़ारों नवयुवकों को स्वेच्छाचारी अधिकारियों का विरोध करके जेल की मुसीबतें और तरह तरह की चोटें सहने की सामर्थ्य दी है। यह गीत प्रवासी भारतवासियों में स्वदेशाभिमान का संचार करने में सफल हुआ है। इसकी प्रेरणा से हिन्दू और मुसलमान कंधे से कंधा भिड़ा कर राष्ट्रीय संग्राम में उतरे हैं। सन् १९१९-२० ई० के असहयोग आन्दोलन में वह भी एक अजीब नज़ारा था, जब पुलिस-कर्मचारी जनता की सार्वजनिक सभाओ को भंग करने के लिए, या विदेशी वस्त्रों पर धरना देनेवाले युवकों तथा महिलाओं को उनके काम से हटाने के लिए, अत्याचार और ज्यादती करते थे, और भारतीय पुरुष और स्त्रियाँ ऊँची आवाज़ से 'बन्देमातरम्' का नारा लगातीं और पुलिस की नयी चोट सहने के के लिए तैयार हो जातीं थीं। इस तरह इस गीत की अनोखी शक्ति के बहुत से सबूत मिले हैं।

इस गीत की रचना भारत के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार श्री० बंकिमचन्द्र जी चेटर्जी ने स्वतन्त्र रूप से की थी. पीछे इन्होंने इसे अपने 'आनन्द-मठ' नाम के उपन्यास में स्थान दिया, जो सन् १८८२ ई० में प्रकाशित हुआ। उन्होंने उस समय की प्रवृत्ति के अनुसार इस का सम्बन्ध अंगरेजी राज्य की प्रशंसा के साथ किया था। उस समय इस गीत का विशेष प्रचार नहीं हुआ, पीछे जबकि बंग-विच्छेद आदि की अप्रिय घटनाओं से भारतवासी ब्रिटिश राज्य की मोह-माया छोड़ने लगे और विदेशी शासन से छुटकारा पाने पर कटिबद्ध हुए तो 'बन्देमातरम् उनके लिए एक बड़ी शक्ति बढ़ाने वाला मन्त्र सिद्ध हुआ। बिना किसी संगठित सहायता के यह गीत घर-घर पहुँच गया। इस गीत के लिए लोगों ने जुर्माना, कैद, लाठी-वर्षा—क्या नहीं सहा! अब तो समय बदल गया। बन्देमातरम् की दीक्षा पाये हुए सज्जनों ने ब्रिटिश भारत में प्रान्तीय शासन-सूत्र तक ग्रहण किया।

अब अंगरेज अधिकारी इस गीत का विरोध न करना ही उचित समझते हैं।

अब इस राष्ट्र-गीत को दूसरी ओर का, सम्प्रदायवादियों का, विरोध सहना पड़ रहा है। कुछ मुसलिम 'नेताओं' का मत है कि यह गीत राष्ट्र-गीत नहीं है; इसमें हिन्दू धर्म के चिह्नों की, मूर्ति पूजा आदि की, भावना है; यह इसलाम विरोधी है। इन बातों में कोई सार नहीं है। यह कहा जा सकता है कि 'आनन्द-मठ' में मुसलमानों के शासन के प्रति विद्रोह-भाव है। लेकिन असल में यह विद्रोह तो पराधीनता के प्रति है। फिर, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'बन्देमातरम्' गीत की रचना 'आनन्द-मठ' से पहले, स्वतन्त्र रूप से हुई है। इस लिए उस उपन्यास में स्थान दिये जाने के कारण, मूल गीत की भावना में दोष निकालना अनुचित है। इसके अलावा अनेक बार, धार्मिक और प्रमुख मुसलिम नेताओं ने इस गीत को गाया, और इसके लिए तरह-तरह के कष्ट सहे हैं। इस समय भी विचारवान मुसलमान इसे राष्ट्र-गीत स्वीकार करते हैं।

मुसलमानों के ऊपर बताये हुए विरोध के कारण काँग्रेस ने यह निश्चय किया कि राष्ट्रीय सभाओं में इस गीत के प्रथम दो पद ही गाये जायँ, जो प्रायः गाये जाते हैं। ये पद आगे लिखे हैं:—

बन्देमातरम्

सुजलाम् सुफलाम् मलयज शीतलाम्
शस्य-श्यामलाम मातरम्।
सुभ्र-ज्योत्सना-पुलकित-यामिनीम्
फुल्ल-कुसुमित-द्रुमदल-शोभिनीम्

सुहासिनीम् सुमधुर-भाषिणीम्
सुखदाम् वरदाम् मातरम् ॥ बन्दे० ॥
त्रिंश-कोटि कलकल-निनाद-कराले,
द्वित्रिंश-कोटि भुजैधृ̍त-खर-कर वाले,
के बोले मा तुमि अबले ?
बहुबलधारिणीम् नमामि तारिणीम्
रिपुदल वारिणीम् मातरम् ॥ बन्दे० ॥
श्यामलाम् सरलाम् सुस्मिताम् भूषिताम्
धरणीम् भरणीम् मातरम् ॥ बन्दे० ॥

सभाओं का संचालन करनेवालों को स्वतन्त्रता है कि वे बन्दे-मातरम् के अलावा या उसकी जगह दूसरा कोई ऐसा गीत गायें, जो आपत्तिजनक न हो। सब देश-बन्धुओं को चाहिए कि राष्ट्र-गीतों के गान और प्रचार में उत्साह और खुशी से भाग लें। सरल और भाव-पूर्ण गीतों की बहुत आवश्यकता है।

नवाँ परिच्छेद

राष्ट्र-भाषा और लिपि

राष्ट्रीयता की एक शर्त यह है कि उस (देश या जाति) की एक भाषा हो। यह आवश्यक नहीं है कि राष्ट्र-भाषा उसकी मातृभाषा हो। राष्ट्र के अवयवभूत लोगों में बहुजन उसे समझें, और उसके द्वारा शासन, व्यापार और कार्य करें, तो वह राष्ट्र-भाषा हो सकती है।..., यह सर्वमान्य बात है कि नागरी वर्ण-माला के समान सर्वाङ्ग-पूर्ण और वैज्ञानिक किसी दूसरी वर्ण-माला का आविष्कार अभी तक नहीं हुआ है। 'सर्वमान्य' से मेरा मतलब उन मनिषियों से है, जो निर्विकार चित्त से इस विषय पर विचार कर सकते हैं।

—बाबूराव विष्णु पराड़कर

भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा

राष्ट्र-भाषा के सम्बन्ध में कुछ बातें 'राष्ट्रीयता के साधन' शीर्षक परिच्छेद में कही जा चुकी है। यहाँ उसके सम्बन्ध में कुछ दूसरी बातों का विचार करना है। किसी देश में वही भाषा राष्ट्र-भाषा हो सकती है, जो उत्तर से दक्षिण, और पूर्व से पश्चिम तक थोड़ी-बहुत बोली जाती हो, आसानी से समझी जाती हो, और जो थोड़ी मेहनत से सीखी जा सकती हो। भारतवर्ष में ऐसी भाषा हिन्दी ही है। हिन्दी भाषा का केन्द्र संयुक्तप्रान्त है। यहाँ से इसकी लहरें चारों ओर फैली हैं। यहाँ तक कि इसकी सीमाएँ बंगला, तामिल, तेलगू कन्नड, मलयलम, मराठी और गुजराती सब भाषाओं से जा मिली हैं। इस तरह हिन्दी इन सबके मिलने की जगह है। जब भारतवर्ष के अलग-अलग प्रान्तों के आदमी आपस में मिलते हैं; तो वे जिस भाषा का उपयोग करके अपना काम चलाते हैं, वह हिन्दी का ही कुछ बदला हुआ स्वरूप होता है। बंगाली कहेगा, 'आप क्या बात करता है।' गुजराती कहेगा, 'आप जल पीओ न, काँई हरकत छे।' इस प्रकार हिन्दी भाषा, बिना किसी मेहनत के बनती और फैलती है। इससे इसकी, राष्ट्र-भाषा होने की स्वाभाविक योग्यता का परिचय मिलता है। इसके अलावा, हिन्दी में एक महत्वपूर्ण विशेषता है, जिससे यह इस पद के लिए यहाँ की दूसरी भाषाओं से अधिक योग्य साबित होती है; वह विशेपता है, इसका भारतीय संस्कृति और सामाजिक जीवन के, सबसे अधिक नजदीक होना। इसमें इस देश के उत्थान और पतन, उन्नति और अवनति की, और समय-समय पर चलनेवाले तरह-तरह के आन्दोलनों की, छाया बराबर पड़ती रही है। यह जनता की धार्मिक, सामाजिक,

आर्थिक और राजनैतिक दशा का सच्चा चित्र उपस्थित करती रही है।

हिन्दी से भारतवर्ष की जो भाषा सब से ज्यादह मिलती है, वह उर्दू है। असल में हिन्दी और उर्दू एक ही भाषा के दो रूप हैं, क्योंकि दोनों के क्रिया-पद, विभक्ति, प्रत्यय, अव्यय और सर्वनाम एक ही हैं। पहले इन दोनों भाषाओं में सिर्फ लिपि का फर्क माना जाता था। देवनागरी लिपि में लिखी हुई भाषा को हिन्दी, और फारसी लिपि में लिखी हुई उसी भाषा को उर्दू कहा जाता था। लेकिन पीछे उर्दू के लेखकों ने अपनी भाषा को विद्वानों और अमीर-उमरावों की भाषा बनाने की फिक्र में, उसमें फार्सी और अर्बी के मुश्किल मुश्किल शब्दों की भरमार करनी शुरू कर दी। यही नहीं, उन्होंने भाषा की शैली भी बदल डाली। मिसाल के तौर पर उन्होंने वकील, साहब और हाकिम शब्दों को बहुवचन में वुकला, असहाब, और हुक्काम लिखा। अमनचैन को अमन-ओ-आमान, धार्मिक उत्साह को जोश-ए-मजहब, और हिन्द माता को मादरे हिन्द कहा। इस तरह उन्होंने हिन्दी व्याकरण के अनुसार न चल कर जब भाषा को ईरानी या अर्बी का लिबास पहनाया तो उनकी भाषा यहाँ की साधारण जनता की समझ में आने लायक न रही। दूसरी तरफ की बात यह है कि हिन्दी में संस्कृत शब्दों का प्रयोग बहुत पुराने जमाने से होता आ रहा था, और कितने ही मुसलमानों ने इस भाषा की कीमती सेवा की है। लेकिन धीरे धीरे संस्कृत के कठिन शब्दों का प्रयोग बढ़ने से यह भाषा खासकर अर्बी मिली हुई उर्दू वालों के लिए बहुत मुश्किल होती गयी। इस तरह कठिन उर्दू और कठिन हिन्दी दो अलग-अलग भाषाएँ होती गयीं।

'अंजुमने तरक्की उर्दू' के सेक्रेटरी मौलवी अब्दुल हक ने सन् १९३३ में बड़ौदे की उर्दू कान्फ्रेन्स में कहा था—"एक जमाना था कि ये दोनों (हिन्दी और उर्दू) एक हो सकती थीं। लेकिन अब रोज-बरोज इनमें इस कदर बुअद (अन्तर) पैदा होता जाता है कि इसका एक जगह लाना और एक कर देना अख्तियार से बाहर हो गया है। इस बुअद को कम करने के लिए बारहा यह कहा जाता है कि उर्दू वाले अरबी फारसी के सकील (कठिन) अल्फाज (शब्दों) से और हिन्दी वाले इस किस्म के संस्कृत अल्फाज से एहतराज (परहेज) करें। यह मशविरा बहुत माकूल है; लेकिन अमल करना दुश्वार है।"

इसी तरह हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तीसवें अधिवेशन में, जो दिसम्बर १९४० में, अबोहर (पंजाब) में हुआ, एक प्रस्ताव में यह निश्चय किया गया—'वास्तव में उर्दू भी हिन्दी से उत्पन्न अर्बी फारसी मिश्रित एक रूप है। हिन्दी शब्द के भीतर ऐतिहासिक दृष्टि से उर्दू का समावेश है, किन्तु उर्दू की साहित्यिक शैली जो थोड़े से आदमियों में सीमित है, हिन्दी से इस समय इतनी विभिन्न हो गयी है कि उसकी पृथक् सत्ता सम्मेलन स्वीकार करता है, और हिन्दी की शैली से भिन्न मानता है।'

जो हो, मौजूदा हालत में ज्यादहतर आदमियों का मत है कि हम साहित्य के लिए हिन्दी और उर्दू दोनों ही भाषाओं को जारी रहने दें; कोई दूसरे मार्ग में बाधक न बने, और न इनमें से किसी भाषा का पक्षपात किया जाय। पीछे जाकर इस बात का फैसला खुद हो जायगा कि कौनसी भाषा ज्यादह लोगों को अच्छी लगती है, और राष्ट्र के लिए ज्यादह उपयोगी साबित होती है।

इधर कुछ समय से कितने ही सज्जनों की यह इच्छा रही है कि आसान हिन्दी और आसान उर्दू के मिलेहुए स्वरूप हिन्दुस्तानी का प्रचार किया जाय, जिसे उत्तर भारत के गाँवों के हिन्दू और मुसलमान दोनों बोलते और समझते हैं। लेकिन कहीं कहीं हिन्दुस्तानी के

नाम पर जिस भाषा का प्रचार किया गया, उसमें फार्सी और अर्बी के कठिन शब्दों और शैली की भरमार रही। इससे हिन्दुस्तानी के आन्दोलन को बड़ा धक्का पहुँचा। ऐसा नहीं चाहिए। हमें कठिन शब्दों से भरसक बचने की कोशिश करनी चाहिए. साथ ही फार्सी, अर्बी, और अंगरेजी आदि के उन शब्दों का व्यवहार करने में एतराज नहीं होना चाहिए, जिन्हें सर्वसाधारण आसानी से समझ सकें। इस तरह रोजमर्रा की जरूरतों से सम्बन्ध रखनेवाली लोकभाषा आसान से आसान होनी चाहिए, और उसे ही हिन्दुस्तानी कहना उचित है।

मई १६४२ में म० गांधी ने हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा कायम की थी। इस के बाद सदस्यों के जेल में रहने के कारण सभा का काम स्थगित सा रहा। नवम्बर १६४४ में सभा का वार्षिक जल्सा हुआ, और काम किया जाने लगा। सभा के पहले सम्मेलन में, फरवरी १६४५ में दो प्रस्ताव पास हुए। पहला प्रस्ताव देवनागरी और उर्दू लिपियों को लोकप्रिय बनाने के सम्बन्ध में था। उसमें कहा गया कि जो इनमें से किसी एक लिपि को जानते हों उन्हें दूसरी लिपि, और जो किसी भी लिपि को न जानते हों, उन्हें दोनों लिपियाँ सीखनी चाहिएँ। दूसरे प्रस्ताव में एक कमेटी बनाने के लिये कहा गया, जो कोष तैयार करने, व्याकरण और कोष के नियम निश्चित करने, तथा उपयुक्त प्रकार का साहित्य तैयार करने का काम करे।

लिपि के बारे में आगे लिखा जायगा। भाषा-कमेटी का काम काफी कठिन है, खासकर इस लिए कि दोनों पक्ष वालों में एक दूसरे के बारे में बहुत शंकाएँ हैं। हिन्दी वालों को डर है कि हिन्दुस्तानी के प्रचार के नाम पर हिन्दी भाषा को बिगाड़ने और इसे उर्दू बनाने की

कोशिश की जा रही है। उधर उर्दू वाले अकसर यह जाहिर करते हैं कि वे हिन्दुस्तानी के काम से खुश नहीं हैं। फिर, अभी हिन्दुस्तानी का ठीक रूप लोगों के सामने नहीं है। इसलिए बहुत से आदमी इसे अपनाने का निश्चय नहीं कर सकते। कमेटी का कर्तव्य है कि हिन्दी और उर्दू का, और साथ ही भारतवर्ष की दूसरी भाषाओं का ध्यान रख कर हिन्दुस्तानी का रूप निश्चित करें। ऐसा न हो कि उर्दू से मिलाने की कोशिश में, वे हिन्दुस्तानी को भारतवर्ष की कई भाषाओं से, जिनमें संस्कृत का आधार काफी है, बहुत दूर कर दें, और इस तरह उसके देशव्यापी भाषा होने के दावे को कमजोर कर डालें।

हमें हिन्दुस्तानी के सवाल पर बहुत सहानुभूति और ठंडे दिल से विचार करना चाहिए। हम चाहते हैं कि हिन्दुस्तानी भाषा ऐसी हो, जो असल में अपने उद्देश्य को सिद्ध करे। जनता में उसका खूब प्रचार हो, और रोजमर्रा के कामों में उसका ज्यादह से ज्यादह इस्तेमाल हो। इस लिए जरूरत पड़ने या आसान मालूम होने पर हम विदेशी शब्दों को भी लेने में संकोच न करें। हाँ, उनका इस्तेमाल इस तरह करें कि भाषा हमारी भाषा से मिलती जुलती रहे, उसकी शैली और मुहावरा हमारा ही हो।

हमें विश्वास है कि अगर शुद्ध हृदय और ईमानदारी से काम किया जाय तो साधारण साहित्य के लिए हिन्दुस्तानी खूब सफल होगी। हाँ, ऊँचे साहित्य की भाषा के रूप में, इस के सफल होने की आशा नहीं की जा सकती। हिन्दी में दर्शन, ज्योतिष, वैद्यक, नीति और धर्म आदि विषयों का पुराना साहित्य बहुत काफी है, वह संस्कृत साहित्य के आधार पर है, और विज्ञान आदि गम्भीर विषयों के उच्च साहित्य की रचना के लिए नवीन शब्दों की आवश्यकता होने पर,

उन्हें संस्कृत से बनाया जाता रहा है, तथा भविष्य में ऐसा ही होना स्वाभाविक है। ऐसा करने से ही हिन्दी भाषा भारतवर्ष की पुरानी साँस्कृतिक विशेषताओं के अनुकूल, तथा यहाँ की विविध प्रान्तीय भाषाओं के निकट रह सकती है। मालूम होता है कि ऊँचे साहित्य के लिए हिन्दी और उर्दू जुदा जुदा ही रहेगी, और हिन्दुस्तानी से से उसकी समस्या हल न होगी। लेकिन यह कोई ऐसी वजह नहीं है कि इसका राष्ट्रीय एकता के लिए उपयोग न किया जाय; और खासकर गाँवों की जनता में (जो देश की कुल आबादी का नब्बे फी सदी है), साधारण ज्ञान का प्रचार करने में हिन्दुस्तानी के काम को उत्साह से आगे न बढ़ाया जाय। आशा है हरेक लेखक और प्रकाशक, अध्यापक और विद्यार्थी इस बड़े काम में भरसक हिस्सा लेने की कोशिश करेगा।

भारतवर्ष की राष्ट्र-लिपि

लिपि के बारे में कुछ विचार तीसरे परिच्छेद में किया जा चुका है। भारतवर्ष के लिए सबसे अच्छी और सबसे ज्यादह प्रचलित लिपि देवनागरी या नागरी है। इस देश के निवासियों में से फी सैकड़ा ६७ आदमी ऐसी भाषाओं का प्रयोग करते हैं, जो इसी लिपि में, अथवा इससे मिलती हुई दूसरी लिपि में, लिखी जाती हैं। मदरास प्रान्त को छोड़कर भारतवर्ष की दूसरी प्रधान लिपियाँ बंगला, मराठी, गुजराती, और गुरुमुखी हैं। इनमें से मराठी तो नागरी से मिलती जुलती ही है, और बाक़ी तीन लिपियों से नागरी किसी बात में कम नहीं। जल्दी लिखने के लिए इसके अक्षरों की ऊपर की रेखा हटायी जाती है, (सिर्फ ख, ध, भ और ण का रूप कुछ बदला जाता है)। नागरी अक्षर कितने ही प्रान्तों में और देशी

राज्यों में भी प्रचलित है। कई प्रान्तीय भाषाओं का साहित्य भी कभी-कभी देवनागरी लिपि में प्रकाशित होता है।* इस तरह भारतवर्ष की राष्ट्र-लिपि बनने की सबसे अधिक योग्यता इसी लिपि में है।

अब फार्सी लिपि की बात लें, जिसमें उर्दू लिखी जाती है, और जिसे आम तौर से उर्दू लिपि भी कह दिया जाता है। शुरू में इसका इस्तेमाल मुसलमान ही करते थे। खासकर मुसलमान बादशाहों के समय में कितने ही हिन्दुओं ने भी इसे अपना लिया। पीछे यहाँ अंगरेज सरकार ने भी इसे अदालतों में जारी करके और सिक्कों आदि पर स्थान देकर इसका महत्व और प्रचार बढ़ाया। कांग्रेस ने समझौते की की भावना से इस लिपि को देवनागरी की बराबरी का पद दे रखा है। सन् १९३७ से १९३९ तक प्रान्तों में जहाँ कांग्रेस-सरकारें थीं, वहाँ उनके द्वारा, और दूसरी जगहों में मुसलमान या अंगरेज अधिकारियों द्वारा, इसे खूब प्रोत्साहन दिया गया। हालाँकि सब यह जानते हैं कि वैज्ञानिक दृष्टि से इस लिपि में बहुत दोष हैं और यह भारतवर्ष की राष्ट्र-लिपि होने के अयोग्य है, तो भी मौजूदा हालत में इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती।

हिन्दुस्तानी प्रचार सभा देवनागरी लिपि के साथ-साथ इस लिपि के प्रचार की जो कोशिश कर रही है, उसका जिक्र पहले किया जा चुका है। पिछले दिनों राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति (वर्धा) और महात्मा गांधी का इस विषय में पत्र-व्यवहार हुआ था। महात्मा जी चाहते हैं कि सब हिन्दवासी दोनों लिपि सीखें; और, हिन्दू

*द्राविड़ी (और विदेशी) भाषाओं को भी इस लिपि में लिखा जा सकता है; सिर्फ कुछ चिह्नों (निशानों) की ज़रूरत होती है, जो रोमन लिपि से सहज ही लिये जा सकते हैं। छपाई की सुविधा के लिए इस लिपि के अक्षरों के स्वरूप में कुछ सुधार की ज़रूरत है, उसका विचार किया जा रहा है।

मुसलमान दोनों समझ सकें, ऐसी भाषा बोलें। इसके सम्बन्ध में राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति ने अपना दृष्टिकोण इस प्रकार जाहिर किया है—"हमने भाषा के प्रश्न को मजहब के प्रश्न से अलग ही विचारना सीखा है। यूँ तो आदमी जितनी भाषाएँ जानता है, उससे उसकी योग्यता ही बढ़ती है। किन्तु जिस देश का बड़ा हिस्सा साक्षर नहीं है, जिस देश के साक्षरों को प्रान्तीय लिपि सीखनी ही होती है, और संस्कृत आदि धार्मिक साहित्य की लिपि सीखने का आग्रह भी रहता ही है, तथा विदेशी शासन होने के कारण अंगरेजी भाषा भी लदती है, उस देश के आबाल वृद्ध के लिए राष्ट्र-भाषा के नाम पर दो-दो लिपियों का अनिवार्य शिक्षण हमारा राष्ट्रीय कार्यक्रम न बने; इतनी हमारी प्रार्थना है ···दक्षिण भारत से हमें पूरा डर है कि राष्ट्र-भाषा के नाम पर यदि उनसे देवनागरी लिपि के साथ-साथ फारसी लिपि भी सीखने का आग्रह किया गया तो दक्षिण भारत कहीं देव-नागरी लिपि को नमस्कार करने की बात न सोचे।"

आम तौर से उत्तर भारत में, हरेक आदमी के लिए दोनों लिपियाँ सीखने की बात का बहुत विरोध हुआ और हो रहा है।

श्री० भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के एक प्रमुख सदस्य श्री० पंडित सुन्दरलाल जी के वक्तव्यों के जवाब में लिखा है "पंडित जी ने कहा है कि यदि दोनों भाषाओं—हिन्दी उर्दू—को एक करना है तो दोनों भाषाओं का ज्ञान होना ही चाहिए, और दोनों भाषाओं के ज्ञान के लिए दोनों लिपियों का ज्ञान अनिवार्य है। हम जानना चाहते हैं कि क्या यह दोनों भाषाओं को एक करने का कार्य प्रत्येक भारतीय करेगा? हिन्दुस्तानी कमेटी के जो सदस्य यह एक करने का कार्य करना चाहते हैं, वे तो सम्भवतः दोनों लिपियों से परिचित होंगे ही। अधिक से अधिक आप उत्तर भारत के सभी सार्वजनिक कार्यकर्ताओं से दोनों लिपियों में लिखी जाने वाली भाषा

पढ़ सकने की आशा कर सकते हैं। किन्तु प्रत्येक भारतीय के लिए दोनों शैलियां और दोनों लिपियां सीखने की क्या आवश्यकता और क्या उपयोग! और, यदि सभी को दोनों शैलियां और दोनों लिपियां सिखानी ही हैं तो फिर एक भाषा बनाने का प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता और क्या उपयोग!"

रोमन लिपि—भारतवर्ष की राष्ट्र-लिपि के सम्बन्ध में रोमन लिपि की भी बात उठायी जाती है। कुछ साधारण आदमी ही नहीं, कभी-कभी तो विद्वान माने जानेवाले और नेता कहे जानेवाले आदमी भी यह सोचते हैं कि रोमन लिपि को राष्ट्र-लिपि का स्थान दे दिया जाय; इसका प्रचार योरप अमरीका आदि अंगरेजी भाषावाले देशों में बहुत है; भारतवर्ष में यह लिपि राष्ट्र-लिपि स्वीकार हो जाने से यहाँ देवनागरी और उर्दू (फार्सी) लिपि का झगड़ा भी न रहेगा।

ये सज्जन भूल जाते हैं कि रोमन लिपि हमारे बहुत से भाइयों के लिए नयी है। अदालतों की भाषा, सभ्यता की भाषा, और सरकारी पद पाने की भाषा बनी रहने पर, और इस की शिक्षा में बेशुमार धन स्वाहा किये जाने पर भी अभी तक दस हजार पढ़े-लिखों में से केवल सवा सौ आदमी अंगरेजी भाषा जान पाये हैं, जो कि रोमन लिपि में लिखी जाती है। विदेशी होने के अलावा, इस लिपि में यह बड़ा दोष है कि इसमें लिखा कुछ जाता है और पढ़ा कुछ और जाता है। जहाँ-जहाँ यह लिपि प्रचलित है, उन स्थानों में रोमन अक्षरों के उच्चारण समान नहीं हैं। यह ठीक है कि टर्की आदि कुछ राज्यों ने अर्बी लिपि छोड़ कर रोमन लिपि को स्वीकार किया है, लेकिन यह इसलिए नहीं कि रोमन लिपि सब तरह से पूरी या वैज्ञानिक है, बल्कि इसलिए कि यह लिपि उन राज्यों की पहले की लिपियों से

कुछ अच्छी है, और छपाने या टाइप करने में बहुत सुविधाजनक है। रोमन लिपि के प्रचार का कारण यह भी है कि यह उन राज्यों की लिपि है, जिनका संसार में राजनैतिक तथा आर्थिक ज़ोर है।

जो हो, रोमन लिपि का भारतवर्ष की राष्ट्र-लिपि होना बिल्कुल अनुचित या गैर-मुनासिब है। देवनागरी लिपि ही सब से अच्छी लिपि है। इसके, भारतवर्ष में भी उपेक्षित होने का कारण हमारी पराधीनता है। इस लिपि के साथ न्याय असल में तभी होगा, जब हम स्वराज्य प्राप्त कर लेंगे, और आदमी निष्पक्ष विचार कर सकेंगे।

दसवाँ परिच्छेद

राष्ट्रीय शिक्षा और साहित्य

हमारी शिक्षा से पराधीनता, गरीबी, बीमारियाँ, अज्ञानता और असमानता—ये पाँच चीज़ें चली जानी चाहिएं, और देहाती लोगों की आमदनी (मज़दूरी) बढ़नी चाहिए। *—किशोरीलाल मश्रुवाला*

राष्ट्र के जीवन तथा उसके अस्तित्व का आधार साहित्य ही है। साहित्य में राष्ट्र के प्राण हैं। जिस अनुपात से साहित्य उन्नत होता है, उसी अनुपात से राष्ट्र भी जीवित रहता है। साहित्य का निर्माण, राष्ट्र का निर्माण है।

—शुकदेव प्रसाद

राष्ट्रीय शिक्षा

शिक्षा का महत्व सब जानते हैं। यहाँ हमें राष्ट्रीय शिक्षा के सम्बन्ध में विचार करना है, जिससे राष्ट्रीय समस्याओं के हल होने में महत्वपूर्ण सहायता मिलती है। उन्नीसवीं सदी के आखरी हिस्से में लोगों का ध्यान उस समय की शिक्षापद्धति के दोषों की ओर

गया। यह विचार किया जाने लगा कि देश में शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जिससे विद्यार्थियों के हरेक कार्य और विचार में स्वावलम्बन और स्वाधीनता का भाव हो, वे अपने व्यवहार में जननी जन्मभूमि के हित का ध्यान रक्खें। इन विचारों के कारण यहाँ ऐसी संस्थाएँ बनायी जाने लगीं, जो सरकारी नियन्त्रण से मुक्त रहें. राष्ट्रीय भावों वाली हों, और देश की सभ्यता की रक्षा करनेवाली तथा औद्योगिक जरूरतों को पूरा करनेवाली हों। इस विषय में हम अपनी 'भारतीय जागृति' पुस्तक में खुलासा लिख चुके हैं। जो हो, हमारी राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाओं का कार्य प्रशंसा के योग्य होते हुए भी, उनका क्षेत्र तथा परिणाम बहुत कम रहा है। हाँ, इनकी कोशिश से यह बहुत-कुछ मालूम हो गया कि भविष्य में हमारी शिक्षा की दिशा क्या हो, क्या आदर्श रहे, और किन-किन गलतियों से बचा जाय।

बुनियादी शिक्षा और नयी तालीम—सन १९३७ ई० में प्रान्तों में प्रजातन्त्र सरकारों की स्थापना हो जाने पर खास तौर से कांग्रेस सरकारों ने शिक्षापद्धति में नये सिरे से परिवर्तन करने का निश्चय किया। महात्मा गाँधी की प्रेरणा से बुनियादी ('बेसिक') शिक्षा की योजना बनायी गयी। इसकी खास-खास बाते ये थीं—सब बालकों के लिए उनकी मातृभाषा में सात साल की मुफ्त और अनिवार्य (लाजमी) शिक्षा का प्रबन्ध हो; शिक्षा का आधार या केन्द्र किसी प्रकार की उत्पादक दस्तकारी होनी चाहिए; शिक्षा का दूसरे विषयों (भाषा, गणित, भूगोल, इतिहास, विज्ञान और आलेख्य या ड्राइङ्ग आदि) का सम्बन्ध यथा-सम्भव उस दस्तकारी से होना चाहिए; उस दस्तकारी का चुनाव बालकों के वातावरण, और उस जगह की हालत को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। प्रयोग

के लिए कताई-बुनाई बुनियादी दस्तकारी मानी जायँ और नागरिक ज्ञान ('सीविक्स') आदि समाजशास्त्र की शिक्षा दी जाय।

ऐसी शिक्षा से हाथ और दिमाग दोनों की शक्ति का विकास साथ-साथ होता है। बालकों के मिल जुल कर काम करने से जात-पाँत का बन्धन टूट जाता है. तथा सब के दिल में श्रम यानी मेहनत का आदर मा बढ़ता है। आर्थिक दृष्टि से यह लाभ है कि इस पद्धति से शिक्षा का कुछ खर्च निकल आने के अलावा लोगों में धन पैदा करने की ताकत बढ़ती है, और वे अपने खाली समय का उपयोग करने योग्य होते हैं। नागरिक ज्ञान की शिक्षा से भावी नागरिकों को इस बात का अवसर मिलता है कि वे देश की समस्याओं को, तथा अपने कर्त्तव्यों और अधिकारों को समझें और इस प्रकार सच्ची देशभक्ति का परिचय दें तथा प्रजातन्त्रीय भावनाओं का उपयोग करें। मातृभाषा द्वारा शिक्षा प्राप्त करने से विद्यार्थियों में विविध विषयों को भली भाँति समझने, उनपर साफ और शुद्ध विचार करने, और अपने विचार दूसरों पर बातचीत या लेख द्वारा प्रकट करने की योग्यता प्राप्त होती है; वे अपने राष्ट्र की भावनाओं तथा आकांक्षाओं से परिचित रहते हैं और राष्ट्र की उन्नति में अमली तौर से हिस्सा ले सकते हैं।

जगह जगह बुनियादी शिक्षा संस्थाएँ कायम की गयीं, और काम खूब जोश से होने लगा था। लेकिन १९३९ में कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों के इस्तीफे देने के बाद इस ओर उपेक्षा की जाने लगी। अगस्त १९४२ के दमन के बाद तो यह काम बहुत कुछ रुक ही गया। अब इस तरफ फिर ध्यान दिया जाने लगा है।

कांग्रेस की ओर से स्थापित हिन्दुस्तानी तालीमी संघ की देख-

भाल में पिछले छः वर्ष नयी तालीम के बारे में तरह तरह के अनुसंधान और प्रयोग किये गये। १६४४ में म० गांधी ने देशवासियों की समग्र शिक्षा यानी पूरी तालीम का विचार प्रकट किया - सात वर्ष की उम्र से पहले की पूर्व बुनियादी शिक्षा, ७ वर्ष से १४ वर्ष तक की बुनियादी शिक्षा, १४ वर्ष से बाद की उत्तर बुनियादी शिक्षा, और इन तीनों के अलावा दूसरे नागरिकों के लिए प्रौढ़ शिक्षा। समग्र शिक्षा के सम्बन्ध में कई एक विस्तृत योजनाओं का बनना अभी बाकी है। कई सवाल सामने हैं - ७ वर्ष से कम उम्र के बच्चों में से किस-किस उम्र के बच्चों को कैसी-कैसी और किस-किस तरह शिक्षा दी जाय। ७ से १४ वर्ष तक की उम्र के बच्चों की बुनियादी शिक्षा का जो अनुभव हुआ है, उसके आधार पर अब क्या-क्या परिवर्तन किये जायँ? १४ वर्ष तक की शिक्षा के बाद शिक्षा का क्या स्वरूप हो? प्रौढ़ शिक्षा की कुछ रूप रेखा आगे दी गयी है। आशा है इन विषयों पर विचार होगा और भारतवर्ष के सात लाख गाँवों की गरीबी और अज्ञान को दूर करके उन्हें उन्नतशील और समृद्धिशाली बनाने की कोशिश की जायगी।

धार्मिक शिक्षा—भारतवर्ष में कई धर्मों और जातियों के आदमी रहते हैं। इसलिए यहाँ राज्य की ओर से किसी एक धर्म को विशेष सहायता या प्रोत्साहन मिलना या उसकी शिक्षा का इन्तजाम होना ठीक नहीं है। हाँ, धर्म के मूल सिद्धान्तों के प्रचार की व्यवस्था होनी उचित है, और मूल सिद्धान्त सब धर्मों के एकसे ही होते हैं। साथ ही साथ, राष्ट्र-धर्म की भी शिक्षा दी जाने की जरूरत है। राष्ट्र-धर्म से हमारा मतलब यह है कि हम बौद्ध, जैन, हिन्दू, मुसलमान ईसाई या पारसी किसी भी मत के माननेवाले क्यों न हों, एक

जन्मभूमि या मातृभूमि की संतान होने के कारण, सब आपस में भाईचारा रखें, और देश-सेवा को अपना परम धर्म समझें।

इतिहास की शिक्षा—राष्ट्रीय शिक्षा में हरेक विषय इस विचार से पढ़ाया जाना चाहिए कि उसका राष्ट्रीय जीवन में उपयोग हो। भारतवर्ष में खासकर साम्राज्यवादी अंगरेज लेखकों ने इतिहास को ऐसा रूप दिया है कि वह साम्प्रदायिक द्वेष बढ़ाने का साधन हो गया है। उसे पढ़ कर हिन्दू विद्यार्थी तो यह अनुभव करता है कि मानो उसके सामने ही उसके धर्म पर हमला हो रहा है, और, मुसलमानों में हिन्दू वीरों के गुणों का आदर-मान करने की भावना पैदा नहीं होती। यह ठीक है कि कुछ भारतीय शासकों ने समय समय पर बड़ी भूल की, तथा अनुदारता का बर्ताव किया। पर, क्या हम सिर्फ दोषों को ही ढूँढ़ते रहें? हमारे यहाँ कितनी ही घटनाएँ ऐसी हुई हैं, जिनसे हिन्दू-मुसलमानों के आपसी प्रेम, उदारता और भाईचारे का परिचय मिलता है। जरूरत है कि हमारा इतिहास नये ढँग से सहानुभूति रखनेवाले लेखकों से लिखाया जाय। यह समाचार आशाजनक है कि यह शुभ कार्य शुरू हो गया है। लेकिन कहना नहीं होगा कि अभी तो हमें अनर्थकारी इतिहासों के प्रयश्चित-रूप से ही बहुत ताकत खर्च करनी होगी, तब जाकर कुछ असली काम की बारी आवेगी।

घरों में शिक्षा—बालकों की शिक्षा सबसे पहले घरों में होती है, और उनकी पहली अध्यापिका माताएँ ही होती हैं। बालकों के भविष्य की नींव माताएँ ही डालती हैं। यह उन्हीं पर निर्भर है कि बालकों के आदर्श कितने ऊँचे होंगे, और उनमें स्वावलम्बन और देश-भक्ति आदि गुणों का विकास किस हद तक होगा। यह बहुत

जरूरी है कि खुद स्त्रियों से विचार बहुत ऊँचे हों। इसलिए उनकी शिक्षा का काफी इन्तजाम होना चाहिए। माता पिता को चाहिए कि अपनी सन्तान को बचपन से ही देशभक्ति और उदारता की मनोहर कथा-कहानियाँ सुनावें, जिससे उनके कोमल हृदयों पर अच्छा और स्थायी प्रभाव पड़े।

प्रौढ़ शिक्षा—इसी प्रकार प्रौढ़ यानी बड़ी उम्रवाले उन स्त्री पुरुषों की राष्ट्रीय तथा राजनैतिक शिक्षा का इन्तजाम करने की आवश्यकता है, जो किसी संस्था में वाकायदा नहीं पढ़ सकते। उनके लिए सभाएँ और समाचारपत्र आदि बहुत सहायक होते हैं। जगह-जगह रात्रि-पाठशालाएँ पुस्तकालय और वाचनालय खोले जाने चाहिएँ। इसके अलावा, हरेक विचारशील राष्ट्र-प्रेमी का कर्तव्य है कि अपने-अपने हल्के में जिन मित्रों, पड़ोसियों, सम्बन्धियों तथा गाँव और नगरवालों से मिले, उनसे बातचीत और विचार-विनिमय करके उन्हें देश की हालत और जरूरतें समझावे।

म० गांधी के शब्दों में "प्रौढ़ शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो स्त्री पुरुषों को हर तरह बेहतर नागरिक बनाये।···किताबें होंगी पर वे विद्यार्थी के बजाय शिक्षकों के काम की अधिक होंगी। हमें बहुमत को यह सिखाना होगा कि वे अल्पमत वालों के साथ कैसा बर्ताव करें और यही अल्पमत वालों को भी सिखाना होगा। ठीक ढंग की प्रौढ़ शिक्षा लोगों को पड़ोसियों का भाइचारा सिखायेगी और इस तरह अस्पृश्यता और साम्प्रदायिक समस्या की जड़ पर ही कुठाराघात करेगी।··· हमें गांववालों को सहकारिता की भी शिक्षा देनी है।·· हमें उनको स्त्री पुरुषों के बीच उचित सम्बन्ध की भी शिक्षा देनी है। एकसे काम के लिए पुरुषों को स्त्रियों से दुगनी मजूरी मिलती है;

कभी-कभी पुरुष आराम से बैठ कर चिलम पीते हैं, जबकि स्त्रियों को सारा दिन काम करना पड़ता है। लोगों को सिखाना चाहिए कि यह अन्याय है, और यह ख़त्म होना चाहिए।"

इससे साफ जाहिर है कि शिक्षा का कार्य कितना व्यापक है; उससे हमारी सभी राष्ट्रीय कमजोरियाँ और कमियाँ दूर होने में मदद मिलनी चाहिए।

राष्ट्रीय साहित्य

साहित्य और राष्ट्र—साहित्य और राष्ट्र का गहरा सम्बन्ध है। जहाँ साहित्य अच्छा और काफी है, वहाँ राष्ट्र भी बलवान है; और, जहाँ साहित्य गिरी हुई हालत में है, वहाँ राष्ट्र भी लड़खड़ाता हुआ और कमज़ोर है। जिस तरह प्राण निकल जाने से शरीर मुर्दा हो जाता है, उसी तरह साहित्य के नाश होने पर राष्ट्र भी जिन्दा नहीं रह सकता। भारतवर्ष की बात लीजिए। जब यहाँ संस्कृत साहित्य का प्रबल प्रवाह था, तथा वेदों और उपनिषदों का डंका बज रहा था, तब यहाँ के महात्मा और ऋषी जगद्गुरु थे, राजा चक्रवर्ती थे, देश धन-धान्य से भरा था। पीछे साहित्य में उलट-फेर हुआ तो राष्ट्र में भी उथल-पुथल होचली; आपसी कलह और विलासिता ने घर कर लिया। तुलसी, कबीर, नानक आदि महात्माओं के अच्छे ग्रन्थों ने, नवजीवन का संचार किया, तो यहाँ बहुत से भक्त हुए; वीर रस के साहित्य के प्रभाव से हमने विविध संकटों को झेलते हुए भी अपने आपको बनाये रखा। हाँ, फारिस के कविता के आधार पर यहाँ बाज़ारी लड़के लड़कियों की 'प्रेम-रस' की गजलों ने जोर पकड़ा तो लैला-मजनू, शीरीं फरहाद, गुलबकावली और चन्द्रकान्ता

आदि का नवयुवकों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा; उसे देखकर आज भी हृदय काँपता है। 'फूल खिलने भी न पाया था कि कली ही कुम्हला गयी' की कहावत पूरी होती है। अंगरेजों से सम्बन्ध होने पर हमने मिल, स्पेंसर और बर्क आदि लेखकों का साहित्य देखा तो आजादी के भावों को उत्तेजना मिली और विज्ञान की ओर हमारी रुचि बढ़ी। परन्तु अंगरेजी साहित्य से हममें कुछ दूषण भी आ गये। हमारा अपना भेष नहीं रहा, अपनी भाषा न रही और अपने विचार न रहे। अंगरेजों की देखा-देखी, फेशन का भूत हमारे सिर पर सवार है। और, कितने-ही आदमी नाममात्र को हिन्दुस्तानी रह गये हैं।

दूसरे देशों के उत्थान-पतन यानी चढ़ाव-उतार में भी वहाँ के साहित्य का बड़ा हिस्सा रहा है। योरप इटली, फ्रांस, जर्मनी, इंगलैंड आदि देशों के इतिहास पढ़िए; मालूम हो जावेगा कि जितनी उन्नति इन देशों के साहित्य में होती गयी, उतने ही ये फलते-फूलते गये। एशिया में जापान के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसा ही है। इसी प्रकार जब तक यूनान, मिस्र, फारिस, आदि देशों के निवासी साहित्य की ओर सावधान रहे, ये संसार में शिरोमणि बने रहे। जब से इनके साहित्य को धक्का लगा, उसमें मैल भरने लगा और उसकी तरक्की रुक गयी, तब से इन देशों का कुछ मान ही न रहा। कुछ देशों का हाल में उद्धार हुआ है तो नये रूप में, और नये साहित्य के बल पर।

दूसरे देशों में, हमारे लिए आयर्लैंड की मिसाल बहुत विचार करने योग्य है। इंगलैंड ने वहाँ का साहित्य नष्ट कर अपने साहित्य का प्रचार किया, इससे वहाँ के निवासी अपनी संस्कृति गवाँ कर, इंगलैंड की नकल करने में अभिमान करने लगे थे। पराधीनता के समय में आयर्लैंड ने क्या-क्या कष्ट न सहे! अन्त में कुछ दूरदर्शी

नेताओं ने अपनी मातृभूमि के उद्धार का बीड़ा उठाया। उन्होंने इस कार्य में अपनी मातृभाषा 'गैलिक' तथा राष्ट्रीय साहित्य के प्रचार को प्रमुख स्थान दिया। घर घर में इनका प्रचार किया गया। इससे वहाँ मातृभूमि के लिए बलिदान होनेवालों का सिलसिला बंध गया। वीर मेक्स्विनी ने ७६ दिन तक उपवास या अनशन (फाका) करके अपने प्राण खुशी-खुशी देश के लिए न्यौछावर कर दिये। उसने कहा था, कि मैं उस साहित्य का पुजारी हूँ, जिसने मुझे सच्चे रास्ते पर चलना सिखाया है! राष्ट्रीय साहित्य के ऐसे ही पुजारियों ने आयर्लैंड को आजाद किया है।

राष्ट्र-निर्माण में साहित्यसेवियों का स्थान—जिस तरह किसी विशाल भवन को बनाने के लिए बहुत से आदमिमों की जरूरत होती है, और कई तरह का सामान जुटाना पड़ता है, उसी तरह राष्ट्र-निर्माण में भी कई बातें जरूरी होती हैं, जैसे एकता, सहनशक्ति, वीरता, धैर्य, बुद्धि आदि। लेकिन जिस तरह मकान बनाने का सब सामान तब ही काम देता है, जब वह किसी चतुर मिस्त्री की देख-रेख में ठीक जगह लगाया जाय, इसी प्रकार राष्ट्रीयता के साधन भी तभी लाभदायक होते हैं, जब कोई इनके इस्तेमाल की विधि बतानेवाला हो; और, यह काम चतुर साहित्यसेवियों और योग्य सम्पादकों का है; वे हमें अपनी पुस्तकों तथा लेखों से हमारा कर्त्तव्य तथा उसको पालन करने की विधि बतला सकते हैं। जिस तरह कोई चतुर वैद्य हीन-से-हीन रोगी को चंगा कर सकता है, वैसे ही चतुर साहित्य-सेवी गिरे-से-गिरे राष्ट्र को उठा सकता है; देश में हलचल मचा सकता है, जनता की रुचि बदल सकता है। इसलिए राष्ट्र-निर्माण में साहित्यसेवियों का वही स्थान है, जो घातक बीमारी में चतुर वैद्य का,

विशाल भवन-निर्माण में होशियार मिस्त्री का, तथा राज्य-शासन में योग्य नीतिकारों का है। हमारे देश में सच्चे साहित्यसेवियों की कमी है। यही कारण है कि राष्ट्र-निर्माण में इतनी देर हो रही है। यह ठीक है कि अभी जनसाधारण की रुचि राष्ट्रीय साहित्य की ओर कम है, परन्तु ज्यों-ज्यों अच्छे साहित्यसेवी तथा प्रचारक बढ़ेंगे, जनता की रुचि में भी परिवर्तन होता जायगा।

खेद है, कितने ही लेखक या कवि कहलानेवाले अपनी लेखनी का उपयोग सिर्फ धन कमाने में समझते हैं। जिस 'साहित्य' के अधिक-से-अधिक ग्राहक मिलने की सम्भावना होती है, उसकी ही रचना करने के लिए ये तैयार रहते हैं, चाहे उससे समाज या राष्ट्र कितना ही रसातल को जाय। ये लोग अपनी खुदगर्जी से ऐसा काम करते हैं, जिससे नवयुवकों में निर्भीकता, साहस, और कष्ट-सहन के भावों का उदय न होकर उनमें विलासिता, नजाकत, और बदचलनी बढ़ती है। हमारी साफ राय है कि साहित्य के नाम पर आज-दिन जो पुस्तकें छप रही हैं, उनका खासा हिस्सा नष्ट कर दिये जाने योग्य होता है।

साहित्य किस ढङ्ग का होना चाहिए?—इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जो पुस्तक लिखी जाय, उसमें देश-काल का विचार जरूर रखा जावे। भारत की हालत में पहले से बहुत फरक हो गया है; अब यहाँ पर एक ही जाति अथवा एक ही धर्म नहीं है। हिन्दू हैं, मुसलमान हैं, ईसाई, पारसी आदि हैं; इन सब का ही ध्यान रखकर हमें भारतीय राष्ट्र बनाना है, किसी खास एक हिस्से का नहीं। यह तब ही हो सकता है जब हमारा साहित्य मेल बढ़ानेवाला हो, वाद-विवाद मिटानेवाला हो, तथा ऐसे विषयों से भरा हुआ हो, जो

सारे देश के लिए लाभदायक हो। लेखक को चाहिए कि ऐसे ही ग्रन्थों की रचना करे, जिनसे शिल्प और विज्ञान की उन्नति हो, दस्तकारी, कल-कारखाने और व्यापार बढ़े, जिनसे देश का धन देश में ही रहे; खेती, पशुपालन तथा पशु-रक्षा का ज्ञान हो, जिनसे आदमी अपने साथ दूसरों की भी जरूरतें पूरी कर सकें।

हमारी पुस्तकें पाठकों को ऊँचे आदर्श पर लेजानेवाली हों, जिनसे राष्ट्र-धर्म, अर्थशास्त्र, विज्ञान तथा राजनीति की, और अच्छे व्यवहार की शिक्षा मिले, जो उन्हें उदार देशभक्ति के रंग में रंगें, स्वाधीनता प्राप्त करावें, जिनको पढ़ कर वे नेकचलन बनें, त्याग के मर्म को जानें, और दूसरे के अधिकारों की रक्षा करना अपना धर्म समझें। सार बात यह है कि ग्रन्थ ऐसे होने चाहिएँ, जिनके पढ़ने से हम अपने देश की यथेष्ट उन्नति करते हुए अपनी राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने में सफल हों।

ग्यारहवां परिच्छेद

राजनैतिक एकता

[प्रांतीयता, मुसलिम राष्ट्र, और देशी राज्य]

हम हृदय से और बल के साथ यही चाहेंगे कि भारतवर्ष अखण्ड रहे, रासकुमारी से हिमालय के उच्च शिखर तक, अरबी समुद्र के भारतीय तट से ब्रह्मपुत्र के पूर्वीय करारों तक, वह अपनी समस्त सभ्यता, सम्पदा और विभूति के साथ अक्षुण्ण रहे, और संसार के इस समस्त भू-खण्ड पर एक ही राष्ट्रीय झण्डे और एक ही राष्ट्रीय भावना का आधिपत्य हो। —"प्रताप"

हरेक राष्ट्र के लिए, लोगों में राजनैतिक एकता का होना जरूरी है।

भारतवर्ष में, इस विषयकी खास बाधाएँ नीचे लिखी हैं :—(१) कितने ही आदमियों में प्रांतीयता की ऐसी भावना, जिससे वे दूसरे प्रांतवालों से काफी सहानुभूति और सहयोग का भाव नहीं रखते; (२) साम्प्रदायिकता, खासकर कुछ मुसलमानों की यहाँ पाकिस्तान या मुसलिम राष्ट्र बनाने की कल्पना, और (३) संघ-शासन में, देशी राजाओं की केन्द्रीय सरकार के अधीन न रहने तथा अनुत्तरदायी शासन जारी रखने की भावना। इन बातों पर आगे कुछ खुलासा विचार किया जाता है।

प्रांतीयता

राष्ट्रीयता का विकास अच्छी तरह न होने के कारण, यहाँ कभी-कभी साधारण ही आदमी नहीं, शिक्षित और विद्वान कहे जानेवाले भी संकीर्ण प्रांतीयता के भावों में फंसे पाये जाते हैं। इसलिए कहीं बंगाली-बिहारी समस्या है, कहीं बङ्गाली-मारवाड़ी, कहीं महाराष्ट्री-हिन्दुस्तानी, और, कहीं तामिल-तेलगू आदि। इन सब समस्याओं को हल करने के लिए जरूरी है कि हमारे भाई बन्धु इस बात को अच्छी तरह समझ लें कि राष्ट्रीय एकता को बढ़ाने के लिए संकुचित प्रांतीय भावना हटादी जानी चाहिए। प्रान्त की उन्नति में भरसक योग देना उचित और उपयोगी है, लेकिन प्रांतीय प्रश्नों पर विचार करते हुए हम कभी राष्ट्रीय दृष्टिकोण की अवहेलना न करें। जो आदमी अपने प्रान्त से जुदा किसी दूसरे प्रान्त में रहते हों, उनका कर्त्तव्य है कि वे उस प्रान्त की भाषा सीखें, वहाँ की संस्कृति और संस्थाओं का आदर करें, वहाँ के आदमियों से मिल-जुल कर रहें, स्नेह और सद्भावना से उस प्रांत के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक हित के कार्यों में योग दें। उस प्रान्त के निवासियों का भी फर्ज है कि

वे दूसरे प्रान्त से वहाँ आकर बसे हुए आदमियों से किसी तरह का द्वेष-भाव न रखें; वे इस बात को न भूलें कि ये दूसरे प्रांतवाले भी उसी भारतीय राष्ट्र के हैं, जो हम सब का है, और जिसका हित हम सब चाहते हैं।

इस विषय पर कुछ अधिक प्रकाश डालने के लिए बिहार की मिसाल पर विचार करना उचित होगा। पहले यह प्रान्त बङ्गाल का ही हिस्सा था। उस समय बिहारी, शिक्षा आदि में बहुत पिछड़े रहे; उन्हें सरकारी पद या नौकरियाँ भी कम मिलीं। बिहार के अलग प्रान्त बन जाने पर उन्होंने धीरे-धीरे शिक्षा आदि में उन्नति की और वे अपने प्रान्त में काफी सरकारी नौकरियाँ पाने लगे। इससे, वहाँ आकर बसे हुए बङ्गालियों के स्वार्थ में बाधा पहुँचने लगी। बस, बङ्गाली-बिहारी समस्या पैदा हो गयी। काँग्रेस के शासन-काल (१९३७-३९) में, उसकी कार्य-समिति ने मान्यवर श्री० राजेन्द्रप्रसाद जी को इस विषय की जाँच करने के लिए नियुक्त किया और उनकी रिपोर्ट पर विचार करके एक प्रस्ताव मञ्जूर किया; उसकी खास-खास बातें ये हैं :—

भारत को एक मज़बूत स्वतन्त्र राष्ट्र बनाने के लिए यह आवश्यक है कि अलहदगी और सङ्कुचित प्रान्तीयता की प्रवृत्तियों को दबाया जाय पर साथ ही नौकरियों तथा इस तरह के दूसरे विषयों में प्रान्त के आदमियों की माँग की की उपेक्षा नहीं की जा सकती। (२) ऊँची नौकरियों का बँटवारा करते समय देश के दूसरे भागों के योग्य उम्मेदवारों के लिए रुकावट न रखी जाय लेकिन (क) प्रान्त के जुदा जुदा सम्प्रदायों को काफी प्रतिनिधित्व ज़रूर मिलना चाहिए। (ख) पिछड़े हुए निवासियों का उत्साह अधिक से अधिक बढ़ाया जाय, जिससे वे राष्ट्र के कार्यों में पूरा हिस्सा ले सकें। (ग) तरजीह देने का फैसला प्रान्तीय सरकारों के निश्चित नियमों के अनुसार हो, जिससे पक्षपात न

किया जा सके। (३) जहाँ तक विहार का सम्बन्ध है; विहारियों और इस प्रान्त में पैदा हुए बङ्गला-भाषियों तथा 'डोमिसाइल्ड' (बसे हुए) बङ्गालियों में भेद-भाव न रक्खा जाय। नौकरियों तथा दूसरे मामलों में इनके साथ समान व्यवहार किया जाना चाहिए। (४) बसे हुए होने का सबूत इस बात से मिलेगा कि उम्मीदवार ने इस प्रान्त को अपना घर बना लिया है या नहीं; वह कितने दिन प्रान्त में रह चुका है, प्रान्त में उसका मकान या दूसरी तरह की जायदाद है या नहीं। इस प्रान्त में जन्म होना या लगातार दस साल रहना 'डोमिसाइल्ड' साबित करने के लिए काफी है। (५) प्रान्त में व्यवसाय तथा व्यापार करने के लिए किसी पर रोक न रहे। ज़रूरत है कि कारखाने पड़ोस के लोगों को नौकरी देकर उनसे सम्बन्ध बढ़ावें। (६) जब प्राँत की शिक्षा-संस्थाओं में स्थान सीमित हों तो अलग अलग सम्प्रदाय वालों के हिस्से सुरक्षित रक्खे जायँ; हाँ प्रान्त के लोगों को तरजीह दी जा सकती है। (७) विहार के उन हल्कों में जहां बङ्गला ज्यादा बोली जाती है, प्राइमरी स्कूलों में बङ्गला भाषा से शिक्षा दी जाय; वहाँ हिन्दी भाषा भाषियों की सख्या काफी होने पर हिन्दुस्तानी पढ़ाई का भी इन्तज़ाम हो। इस तरह जहाँ बहुमत गैर-बङ्गालियों का हो, वहाँ हिन्दुस्तानी के साथ ही बङ्गला की पढ़ाई का भी प्रबंध हो। ऊँची कक्षाओं की पढ़ाई हिन्दुस्तानी के ज़रीये हो लेकिन बंगला की पढ़ाई का भी इंतजाम हो। स्थानीय जनता की माँग के मुताबिक उसकी भाषा की पढ़ाई का प्रबंध होना चाहिए।

समिति ने यह सलाह दी कि दूसरे प्रान्तों में भी इन नियमों को ध्यान में रख कर, कार्य किया जाय। कहना नहीं होगा कि समिति ने गम्भीरता से काम लिया है। उसने प्रान्त-हित के साथ राष्ट्र-हित का मेल बैठाया है; प्रान्तवासियों के अधिकार सुरक्षित रखते हुए भी बाहरवालों के लिए कोई असुविधाजनक बातें नहीं की हैं। आशा है दूसरे प्रान्तवाले भी ऐसा ही विचार रखेंगे, और समिति का निर्णय उनके लिए उचित रास्ता सुझानेवाला होगा।

भाषा या संस्कृति आदि के आधार पर प्रान्तों के बँटवारे और

नये प्रान्त बनवाने की माँग बढ़ती जाती है। सन् १९३५ ई० के शासन विधान से भी लोगों की प्राँतीयता की भावना बढ़ी है। यह भावना एक सीमा तक ही रहनी चाहिए। हरेक प्रान्त के आदमी अपने-अपने प्रान्त की उन्नति करते हुए राष्ट्र-हित को अपनी आँखों से ओझल न होने दें; साम्प्रदायिक विचार से काम लेना छोड़ दें, और जहाँ तक हो सके, दूसरे प्रान्तों की उन्नति में भी मदद दें।

मौजूदा हालत में आमतौर से एक प्रान्त के आदमी दूसरे प्रान्त-वालों के गुणों का इतना आदर नहीं करते, जितना उनके दोष निकालते रहते हैं। अकसर आदमी यह कहते पाये जाते हैं कि उस प्रान्त के आदमी तो बड़े बुद्धू होते हैं, उस प्रान्तवाले बड़े कञ्जूस हैं या झगड़ालू हैं, उस प्रान्तवालों में घमण्ड बहुत है, इत्यादि। ये बातें हमारा ओछापन जाहिर करती हैं। जब तक ऐसा वातावरण रहेगा हम पूरे राष्ट्र का निर्माण कैसे कर सकते हैं। आवश्यकता है कि हम एक-दूसरे के भावों और विचारों को समझने की कोशिश करें। इस समय तो राष्ट्रीयता का दम भरने वाले बन्धुओं में भी ऐसे कम ही हैं, जो दो से ज्यादह प्रान्तों की भाषा जानते हों; तथा जिन्हें ऐसे खान-पान और रहन-सहन का अभ्यास हो कि दूसरे प्रान्तों में जाकर उन्हें कुछ असुविधा तथा अनोखापन मालूम न होता हो। अकसर हमें दूसरे प्रान्तों के साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अंगरेज़ी लेखकों का आसरा लेना पड़ता है।

जरूरत है कि हरेक प्रान्त अपनी भाषा, संस्कृति और साहित्य आदि की उन्नति करता हुआ कम-से-कम अपने नज़दीक के प्रान्तों की अच्छी-अच्छी बातें लेता रहे; आदमी आपस में मिलने-जुलने और विचार-विनिमय करने के, और एक दूसरे का रहन-सहन तथा भाषा

और व्यवहार आदि जानने के मौके निकालें। हम देश के किसी भाग में चले जायँ, हमें वहाँ कुछ अलहदगी न मालूम हो, हम वहाँ के निवासियों से भली भाँति हिलमिल सकें और उनके सुख दुख में हिस्सा ले सकें। प्राचीन काल में, इस देश में तीर्थ-यात्रा से राष्ट्रीयता के भावों के प्रचार में बड़ी मदद मिलती थी। उसका रूप बदल जाने से अब उससे वैसा फायदा नहीं होता। आजकल आदमी रेल आदि से हजारों मील की यात्रा कुछ घण्टों में तय कर लेते हैं, उन्हें रास्ते की जगहों के निवासियों के जीवन का कुछ अनुभव नहीं होता। तीर्थ-यात्रा से उनकी सिर्फ धार्मिक भावना पूरी हो जाती है, लेकिन राष्ट्रीय दृष्टि से उसका कुछ उपयोग नहीं। यही कारण है कि खासकर उत्तर भारत वालों का दक्षिण भारत के निवासियों से काफी हेल-मेल नहीं है। कुछ वर्ष हुए श्री० देवीदास जी गाँधी ने मदरास-हिन्दी-प्रचार-सभा के द्वारा एक ज्ञान-यात्री-दल की योजना करके सर्वसाधारण के सामने बहुत अच्छा उदाहरण रखा था। जरूरत है कि हरेक प्रान्त में ऐसे दलों का संगठन हो, जो सारे देश में घूमें। वे अलग-अलग प्रान्तों के दो-दो तीन-तीन शहरों के अलावा कई-कई गाँवों में भी ठहरें; लोगों, के रहन-सहन और विचारों का अध्ययन करें, और एकता स्थापित करने की कोशिश करें। इन दलों में ऐसे सज्जन रहें, जो राष्ट्र-भाषा हिन्दी जानते हों अथवा यात्रा शुरू करने से पहले उसे सीख लें। इनके द्वारा अन्तर्प्रान्तीय सहयोग बढ़ने में अच्छी मदद मिलेगी।

पाकिस्तान या मुसलिम राष्ट्र

कुछ हिन्दू अपने प्राचीन गौरव की याद कर कभी-कभी हिन्दू-राज्य की स्थापना की बात सोचा करते हैं, तो कुछ मुसलमान मुसलिम

बादशाहत के दिनों को याद करके तथा बाहर के मुसलिम राज्यों का विचार करके, भारतवर्ष के कुछ भागों का 'मुसलिम राष्ट्र' बनाने का सपना देखा करते हैं। ये अपनी कल्पना को अमली रूप देने के लिए तरह तरह का राष्ट्र-विरोधी आन्दोलन करने से नहीं चूकते।

कई मुसलिम नेता समय-समय पर सीमा-प्रान्त को मुसलमानों के सुपुर्द करने के पक्ष में रहे हैं। स्व० मौलाना मोहम्मद अली का मत था कि पश्चिमोत्तर-सीमा-प्रान्त के आदमियों को आत्म-निर्णय का, यानी अपने बारे में खुद फैसला करने का अधिकार रहे; वे चाहें तो अफगानिस्तान से मिल जायँ, और चाहें तो हिन्दुस्तान से मिले रहें। कुछ मुसलमानों ने उस प्रान्त सम्बन्धी जाँच कमीशन के सामने गवाही देते हुए यह इच्छा जाहिर की थी कि पेशावर से आगरे तक का इलाका मुसलमानों के हवाले कर दिया जाय। कुछ साम्प्रदायिक मुसलमानों का कहना है कि पंजाब की तरफ का सारा भारतवर्ष मुसलिम-संस्कृति-प्रधान हो गया है; पंजाब, कशमीर, पश्चिमोत्तर-सीमा-प्रान्त, बिलोचिस्तान और सिंध में मुसलमान अधिक संख्या में बसते हैं, इसलिए इन सब को एक में मिलाकर 'पाकिस्तान' नाम रखकर एक अलग मुसलिम राष्ट्र बना दिया जाय।* इन बातों में कुछ सार नहीं है। इनसे उनका राजनैतिक मामलों में अज्ञान साबित होती है। 'प्रताप' (कानपुर) की ये पंक्तियाँ विचार करने योग्य हैं:—

"यही बात तो कही जाती है न, कि सरहदी लोग चाहें तो हिन्दुस्तान के साथ रहें, और न चाहें तो न रहें। अगर वे यह निर्णय करते

*इसी प्रकार भारतवर्ष के पूर्वोत्तर में बंगाल-आसाम को भी 'पाकिस्तान' का हिस्सा बनाने की बात कही जाती है।

हैं कि हम हिन्दुस्तान के साथ रहेंगे तब तो कोई बात नहीं; साथ बने रहें। अगर वे इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि हम हिन्दुस्तान के साथ न रहेंगे, तो ऐसी दशा में हम उनसे केवल यह कहेंगे कि आप मेहरबानी करके हमारी सरहद खाली कर दीजिए, और जहाँ आपका जी चाहे, तशरीफ ले जाइए। हम उन्हें जबर्दस्ती नहीं रोकेंगे। हम वहाँ हिन्दुस्तानी हिन्दू मुसलमान लाकर बसा लेंगे। सरहदी मामले इसी तरह से तय होते हैं। हम मुल्क का वह हिस्सा तो छोड़ नहीं सकते। अगर सरहदी लोग हिन्दुस्तानी बनकर और हिन्दुस्तान के होकर यहाँ रहना पसन्द नहीं करेंगे, तो हम उन्हें दूसरी जगह पहुँचा देने में मदद भी देंगे। किसी दशा में भी हम अपनी सरहद पर आँच न आने देंगे। (पिछले) योरपीय महायुद्ध के बाद, ग्रीस और टर्की का झगड़ा इसी तरह तय हो चुका है। ... इन सब उदाहरणों के देने का मतलब सिर्फ इतना ही है कि जहाँ ऐसी उलझन आ पड़े, वहाँ मुल्कों का विभाजन करने के बजाय, आबादी के अदल-बदल का सिद्धान्त काम में लाते हैं। ऐसे मामलों में आत्मनिर्णय और व्यक्तिगत सम्मति के अर्थ सिर्फ इतने ही होते हैं, इससे अधिक कदापि नहीं। इसलिए जो महानुभाव हिन्दुस्तान के सरहद-निवासियों की स्वतन्त्रता के हामी हैं, उन्हें इस नवीन योजना पर ध्यान देने की कृपा करनी चाहिए।"

पाकिस्तान के सम्बन्ध में आत्म-निर्णय या स्वभाग्य-निर्णय के सिद्धान्त की दुहाई दी जाती है, जो पिछले योरपीय महायुद्ध के समय से विशेष रूप से जनता के सामने आया है। इस सिद्धान्त का आशय यह है कि प्रत्येक देश को अपनी इच्छानुसार अपना शासन करने का अधिकार होना चाहिए, कोई दूसरा राष्ट्र उस पर, उसकी इच्छा के विरुद्ध शासन न करे। भारतवर्ष भी यह अधिकार चाहता

है। परन्तु याद रहे कि यह सिद्धान्त पूरे देश के लिए ही ठीक है, उसके जुदा-जुदा हिस्सों (प्रान्तों या ज़िलों), जातियों या सम्प्रदायों के लिए इस को अमल में लाना अनुचित और खतरनाक है। भारतवर्ष में पाकिस्तान की भावना छूत के रोग की तरह है। इसने सिक्खस्तान और अछूतस्तान आदि की कल्पना को जन्म दे दिया है। यह सिद्धाँत मानने से केन्द्रीय सत्ता बहुत कमजोर होगी और भारतवर्ष एक मज़बूत राष्ट्र नहीं रह सकेगा।

जब से भारतवर्ष में संघ-शासन स्थापित करने का विचार होने लगा है, कुछ मुसलिम नेता यह कहने लगे हैं, कि देश के जिन हिस्सों में मुसलमान बहुसंख्यक है, उनका एक अलग संघ बना दिया जाय। यह बात राष्ट्र-घातक तो है ही, इसके अलावा यह अमल में आने लायक भी नहीं है; यह सोचने का, ये नेता कष्ट नहीं उठाते। "सिंध, बलोचिस्तान और सीमा-प्रान्त आज दिन भी दिवालिये प्रान्त हैं। केन्द्रीय खजाने से उन्हें जो करोड़ों रुपये की सहायता मिलती है, उसी के बल पर उनका घरेलू काम किसी तरह चलता है। बँटवारा हो जाने पर मुसलिम संघ के इन प्रान्तों को केन्द्र से सहायता नहीं मिल सकेगी। इधर तो आमदनी बन्द हो जायगी, उधर फौजी खर्च का बहुत बड़ा बोझ मुसलिम संघ के प्रान्तों के मत्थे पड़ जायगा। क्या मुसलिम संघ आर्थिक दृष्टि से स्वावम्बी होगा, और हिन्दुस्तान की पश्चिमी और पूर्वी सीमाओं की रक्षा का भार उठा सकेगा ?"

सन् १९४२ में ब्रिटिश युद्ध-मन्त्रिमण्डल की ओर से सर स्टेफर्ड क्रिप्स भारतवर्ष के शासन की एक योजना लेकर यहाँ आये थे; इसे साधारण बोलचाल में 'क्रिप्स योजना' कहा जाता है। इसमें पाकिस्तान

नीति इस शर्त पर मानी गयी थी कि प्रान्तों के जनमत से मंजूर हो जाय। लेकिन श्री० जिन्ना की माँग यह रही कि ब्रिटिश सरकार लड़ाई के बाद पाकिस्तान कायम करने की अभी से गारंटी कर दे और उसके सम्बन्ध में जनमत सिर्फ मुसलमानों का ही लिया जाय।

सितम्बर १९४४ में म० गाँधी और श्री० जिन्ना में इस विषय पर बातचीत और उसके साथ ही पत्र-व्यवहार हुआ था। महात्मा जी की राय है कि अगर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का बँटवारा हो तो वह दो भाइयों के बीच के बँटवारे या एक कुटुम्ब के लोगों के आपसी बँटवारे की तरह हो।

म० गांधी के विचारों का सार इस प्रकार है :···(१) कांग्रेस और लीग की मंजूरी से बना हुआ कमीशन बिलोचिस्तान, सिन्ध, पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त की, और पंजाब बंगाल और आसाम के उन इलाकों की जिनमें मुसलमानों का साफ बहुमत है, सीमाएँ तय कर दे। (२) इन इलाकों के सब निवासियों की इच्छा जानने के लिए सब बालिग स्त्री पुरुषों के मत लिये जायँ या इसी से मिलते जुलते किसी दूसरे तरीके को काम में लाया जाय। (३) अगर इन इलाकों के सब आदमियों में से ज्यादहतर की राय अलग-अलग राज्य में रहने की हो तो यह समझा जाय कि ये इलाके, सारे हिन्दुस्तान के विदेशी हकूमत से आज़ाद होने के बाद, जल्दी से जल्दी अलग राज्य कायम करना चाहते हैं। (४) ऐसी सूरत में दोनों अलग-अलग हिस्सों में एक संधि या सुलहनामा हो, जिसमें दूसरे देशों से सम्बन्ध, बाहरी हमलों से देश की रक्षा, देश के अन्दर आने जाने के साधन जैसे रेल, तार आदि, आयात-निर्यात (चुङ्गी), व्यापार और इसी तरह के उन सब मामलों के ठीक ठीक इन्तज़ाम को तय कर दिया जाय, जिनमें हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दोनों का हित मिला हुआ है। (५) इसी संधि में दोनों राज्यों में रहनेवाले अल्पसंख्यक सम्प्रदायों यानी पाकिस्तान के गैर-मुसलमानों और हिन्दुस्तान के मुसलमानों के हितों की रक्षा का भी इन्तज़ाम कर दिया जाय। (६) जब कांग्रेस और लीग दोनों

इस समझौते को मंजूर कर लें तो दोनों मिलकर पूरे हिन्दुस्तान को आज़ाद करने के लिए एक समान कार्य-क्रम बनावें। लोग को यह आज़ादी रहेगी कि अगर वह चाहे तो काँग्रेस के सत्याग्रह जैसे आन्दोलन में हिस्सा न ले।

मि० जिन्ना का कहना है कि—(१) सिंध, बिलोचिस्तान पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त, पंजाब, बंगाल और आसाम ये पूरे छः प्रांत पाकिस्तान में शामिल रहें; चाहे इसमें से किसी प्रांत के किसी हिस्से में मुसलमानों का बहुमत हो या न हो। (२) इन प्रांतों के निवासियों का मत न लिया जाय। (३) हिन्दुस्तान से पाकिस्तान की अलहदगी, सारे हिंदुस्तान के आज़ाद होने से पहले ही तय हो जानी चाहिए, बाद में नहीं। (४) विदेशों से सम्बन्ध, देश-रक्षा, व्यापार आदि दोनों स्वतंत्र राज्यों के अपने अधिकार की चीज़ें हैं; वे इन्हें खुद जैसा चाहें, तय कर लेंगे। पहले से किसी संधि आदि ज़रूरत नहीं। (५) पाकिस्तान के अंदर रहनेवाले गैर-मुसलमानों के अधिकारों की रक्षा वह राज्य खुद कर लेगा पहले से किसी समझौते का कोई सवाल नहीं। (६) अंगरेज़ी हुकूमत से सारे हिन्दुस्तान को आज़ादी देने की बात पाकिस्तान और हिन्दुस्तान की अलहदगी के आखिरी फैसले के बाद ही की ही जा सकती है।

म० गाँधी और श्री० जिन्ना की बातचीत और पत्र-व्यवहार से इस मामले पर, जो अब तक बहुत धुंधला था, काफी रोशनी पड़ गयी है। कई सज्जनों ने इसके राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और रक्षा सम्बन्धी पहलुओं पर अखबारों और किताबों में खुलासा तौरसे लिखा है। म० गाँधी और श्री० जिन्नाकी राय में खास फ़र्क़ यह है कि महात्मा जी हिन्दू और मुसलमानों को एक राष्ट्र मानते हैं, जबकि श्री० जिन्ना इन्हें अलग-अलग समझते हैं। इसके सम्बन्ध में महात्मा जी ने अपने १५ सितम्बर के पत्र में श्री० जिन्ना को लिखा था कि "इतिहास में मुझे इस बात का कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता कि अपना धर्म बदलने वाले लोगों के दल और उनके वंशजों ने एक

अलग राष्ट्र बनने का दावा किया हो। अगर इस्लाम के आने के पहले भारत एक राष्ट्र था तो उसकी बहुत सी सन्तानों के धर्म-परिवर्तन के बावजूद भी वह एक और अखंड रहेगा। उसी पत्र में आगे कहा गया है—

"विजय के अधिकार द्वारा आप अलग राष्ट्र होने का दावा नहीं करते। आप इस्लाम धर्म स्वीकार करने के आधार पर यह करते हैं। अगर सारा भारतवर्ष इस्लाम धर्म स्वीकार ले तो क्या दोनों एक राष्ट्र हो जायँगे। क्या बंगाली, उड़िया, आन्ध्रवासी, तामिल निवासी, महाराष्ट्र के लोग तथा गुजराती आदि अगर इस्लाम धर्म ग्रहण करलें तो अपनी विशेषताएँ छोड़ देंगे! ये सभी राजनैतिक दृष्टि से एक हो गये हैं, क्योंकि सभी एक विदेशी ताकत के अधिकार में हैं। आज वे अपनी पराधीनता को तोड़ फेंकने की कोशिश कर रहे हैं। मालूम होता है कि आपने राष्ट्रवाद की नयी कसौटी बनायी है। अगर मैं उसे मान लूं तो मुझे बहुत से दूसरे दावों को भी मानना पड़ेगा, और ऐसी समस्या का सामना करना पड़ेगा, जो कभी हल नहीं हो सकती।

महात्मा जी के इस मत का समर्थन सभी विचारशील सज्जन करते हैं, और करेंगे। जरूरत है कि जनता साम्प्रदायिक भेद भावों को फैलाने और बढ़ाने वाले नेताओं की नेतागिरी न रहने दे, और इनके द्वारा अब ज्यादह समय तक गुमराह न होकर भारतवर्ष की राजनैतिक एकता के लिए जी जान से कोशिश करे।

देशी राज्य

भारतवर्ष को एक राष्ट्र बनाना है तो यहाँ सैकड़ों देशी राज्यों का होना कैसे सहन किया जा सकता है, जिनमें ज्यादहतर स्वेच्छाचारी या अनुत्तरदायी शासन है, और राष्ट्रीय मामलों में लापरवाही की जाती है। देशी राज्यों में से कितने ही तो मामूली गाँव सरीखे हैं। बहुत से राज्यों का क्षेत्रफल, जनसंख्या और आय अच्छे शासन की

सुविधा के लिए काफी नहीं है। पिछले दिनों अ० भा० देशी-राज्य-लोक-परिषद् ने यह प्रस्ताव पास किया था कि बीस लाख से कम आबादी, और पचास लाख रुपये से कम सालाना आमदनी वाले राज्यों को ब्रिटिश भारत के साथ मिला देना चाहिए, या उन्हें आपस में मिलाकर एक बड़ी एकाई बनायी जानी चाहिए। यदि यह प्रस्ताव अमल में आजाय तो सिर्फ इक्कीस ही राज्य रह जायँ। भारतीय राष्ट्र की एकता के लिए यह भी जरूरी है कि ये इक्कीस राज्य अपनी अलहदगी का राग अलापनेवाले न हों, ये सब भारतवर्ष की केन्द्रीय सरकार के अधीन रहें।

इस समय देश में संघ-शासन स्थापित करने का सवाल है। इसका कुछ विशेष विवेचन अगले परिच्छेद में किया जायगा। यहाँ यह कहना है कि जब तक राजा लोग सम्राट् से सीधा सम्बन्ध रखते हुए, यहाँ की केन्द्रीय सरकार से अपनी अलहदगी की बात करते रहेंगे, संघ मजबूत नहीं हो सकता, उससे भारतीय राष्ट्र टुकड़े टुकड़े होता रहेगा।

ब्रिटिश अधिकारियों ने ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों को नक्शे में लाल और पीला रंग देकर, बनावटी तौर से इनको अलहदा बनाये रखने की कोशिश की है। सन् १९३५ के शासन-विधान में भी इस भेद-भाव का अन्त नहीं किया गया। देशी राज्यों सम्बन्धी विषयों की व्यवस्था के लिए गवर्नरजनरल से अलग सम्राट्-प्रतिनिधि या वायसराय का स्वतंत्र पद बना कर भेद-भाव और बढ़ा दिया गया है।

भारत-मंत्री ने एक बार कहा था कि "यदि राजा वैधानिक सुधार करेंगे तो सरकार को किसी तरह का एतराज़ न होगा, लेकिन सरकार उन पर किसी तरह का दबाव डाल कर सुधार नहीं करना

चाहती ; यह राजाओं पर निर्भर है कि वे निश्चय करें कि बदलती हुई स्थिति में उन्हें किस ढङ्ग की शासन-प्रणाली रखनी चाहिए।" इस से साफ जाहिर है कि राजा अपनी प्रजा को उत्तरदायी शासन दे सकते हैं; परन्तु जो सर्वोच्च सत्ता देश में सुख-शान्ति और उन्नति की ठेकेदार है, क्या उसके लिए ऐसी बेकार या 'तटस्थता' की नीति ठीक है ? जब कि वह देशी राज्यों को अंगरेज दीवान रखने, ब्रिटिश साम्राज्य के लिए जन-धन की भारी-भारी सहायता देने, और प्रजा का शोषण और दमन करने तक की साफ या गुपचुप राय दे सकती है, तो क्या उपयोगी शासन-सुधारों के वास्ते देशी राज्यों पर कुछ दबाव डालना उसके लिए बुराई की बात होगी ?

ब्रिटिश अधिकारी कहा करते हैं कि हमने देशी राज्यों से जो संधियाँ कर रखी हैं, उनके कारण हम उनके भीतरी शासन-प्रबन्ध में कोई दखल नहीं दे सकते। लेकिन, क्या संधियाँ कभी नहीं बदलतीं ? क्या नई संधियाँ नहीं होतीं ? खुद ब्रिटिश सरकार का इतिहास क्या कह रहा है ? जब कभी उसके स्वार्थ का सवाल आया, उसने संधियों का नया अर्थ लगाने में ही नहीं, संधियों को रद्दी की टोकरी में फेंकने में संकोच नहीं किया। इसलिए देशी राज्यों के सम्बन्ध में उसका संधियों की बात उठाना बेकार है।*

हमारे राजा लोग कब तक अंगरेज अधिकारियों के हाथ की कठ-पुतली बने रहेंगे ! राजनैतिक जागृति की लहर अब सिर्फ ब्रिटिश भारत तक परिमित नहीं रही। राजाओं का कर्तव्य है कि हवा के रुख को देखें, और भारतीय राष्ट्र के निर्माण में व्यर्थ के रोड़े न बनें। यदि वे खुद ही दूरन्देशी से अपने राज्यों में उत्तरदायी शासन कायम कर देंगे

* देखिए, हमारी 'देशी राज्य शासन' पुस्तक।

तो इतिहास में उनकी कीर्ति अमर हो जायगी। यह निश्चित है कि उन्हें इस ओर बढ़ना तो पड़ेगा ही; जनता अपना उचित अधिकार लेकर रहेगी। राजाओं को अब सार्वभौम सत्ता के बारे में अपना भ्रम या गलतफहमी दूर कर लेनी चाहिए। भारतवर्ष के दुर्दिन अब जल्दी दूर होनेवाले हैं; हमारी सार्वभौम सत्ता हमारे नागरिकों में होगी, न कि समुद्र-पार की किसी विदेशी ताकत में। देशी राज्यों के, किसी विदेशी सत्ता की छत्र-छाया में रहने की बात उनके लिए कलंक है; इस का अन्त होना चाहिए।

आशा है, प्रान्तीयता और मुसलिम राष्ट्र की भावना की भांति देशी राज्यों की दृष्टि से भी भारतवर्ष की राजनैतिक एकता की बाधा जल्द दूर होगी।

बारहवाँ परिच्छेद

स्वाधीनता

मुझे पूर्ण विश्वस है कि भारत की स्वतंत्रता संसार की शान्ति-रक्षा में विघ्न-स्वरूप न होकर सहायक ही होगी। —*म० गाँधी*

देखेंगे दृश्य नाना सुर गण फिर भी आर्य स्वाधीनता के।
गावेंगे गान आहा! जय-जय कहते वीरता धीरता के॥
देवों के हस्त द्वारा हम पर फिर भी पुष्प की वृष्टि होगी।
भाई! है न देरी, भारत वसुमति सौख्य की सृष्टि होगी॥

—*लोचनप्रसाद पाण्डेय*

पराधीन रहते हुए कोई देश न अपनी प्राकृतिक शक्तियों का ठीक विकास कर सकता है, और न वह संसार में अपने कर्त्तव्य और जिम्मेवारी को ही पूरा कर सकता है। इसलिए जरूरी है कि कोई भी

देश अपने स्वाधीनता के अधिकार से वंचित न रहे। पराधीन होना और पराधीन करना दोनों ही बहुत बुरी बात हैं।

कांग्रेस — भारतवर्ष में स्वाधीनता का आन्दोलन करनेवाली खास संस्था काँग्रेस या राष्ट्र-सभा है। इसका कुछ जिक्र दूसरे परिच्छेद में किया गया है। अपने उद्देश्य को पूरा करने में यह धीरे धीरे आगे बढ़ती रही है। शुरू में जनता को यह आशा थी कि कम्पनी के कारनामे चाहे जो रहे हैं, पार्लिमेंट तो कोई व्यापारिक संस्था नहीं है, उसका व्यवहार अवश्य ही अच्छा रहेगा। इस धारणा का कारण महारानी विक्टोरिया की घोषणा भी थी, जिसमें कई उदार प्रतिज्ञाएँ की गयी थीं, और जिसे यहाँ बड़ा अधिकार-पत्र माना गया था। लेकिन ब्रिटिश सरकार ने उन प्रतिज्ञाओं को पूरा न किया। बल्कि यहाँ समय-समय पर ऐसे कार्य किये कि जनता की आशा और विश्वास को गहरा धक्का पहुँचा। मिसाल के तौर पर भारतीय दण्ड-विधान में राजद्रोह वाली दफा १२४ ए० जोड़ी गयी, प्रेस कानून और हथियार कानून बनाये गये। भारतवासियों को ऊँचे सरकारी पद या नौकरियाँ मिलने में तरह-तरह की बाधाएँ डाली गयीं; जनता के लिए टकसाल बन्द की गयी, यानी लोगों को यह अधिकार न रहा कि अपनी चाँदी लेजाकर उसके रुपये ढला सकें। साम्राज्य के लिए लड़ी जाने वाली लड़ाइयों का खर्च भारत के सिर मढ़ा गया। लोगों का ख्याल था कि अगर यहाँ के अधिकारियों की शिकायत इंगलैंड पहुँचाई जायँ तो सुनवाई होगी; इसलिए काँग्रेस-इतिहास का पहला युग जाँच-कमीशन की माँगों का, और डेप्यूटेशन तथा प्रार्थना-पत्र भेजने का रहा। सन् १९०५ तक का इतिहास भारतीयों द्वारा ब्रिटिश वादों को बारबार याद दिलाये जाने और सरकार द्वारा उनके न सुने जाने का

इतिहास है।

जनता का असन्तोष बढ़ता गया। सरकार उसके कारणों को न हटाकर ज्यादह-ज्यादह दमन से काम लेती रही। सन् १९०५ में, उसने भारतीय लोकमत की कुछ परवा न कर बंगाल के दो टुकड़े कर डाले। इसका छिपा हुआ उद्देश्य इस प्रान्त के हिन्दू-प्रधान और मुसलिम-प्रधान हिस्सों को अलग-अलग करके हिन्दू-मुस्लिम भेद बढ़ाना भी था। अब बहुत से नेता डेप्यूटेशनों और प्रार्थना-पत्रों को को बेकार समझने लग गये थे। वे सरकारी नीति के विरोध में कुछ ठोस काम करने के पक्ष में थे। स्वदेशी और बहिष्कार का आन्दोलन चलाया गया। काँग्रेस में उस समय की दृष्टि के कुछ उग्रता या तेजी आयी। 'गर्म' दल बढ़ने लगा। सरकार ने दमन-नीति पर ही विश्वास रखा और समाचारपत्रों, सभाओं और भाषणों आदि पर रोक लगायी। इसके अलावा वह सन् १९०९ में यहाँ ऐसा शासन विधान अमल में लायी, जिससे हिन्दू और मुसलमानों का चुनाव अलहदा होने लगा और साम्प्रदायिक भेद-भाव बढ़ने लगा। सन् १९१४ में (पहला) योरपीय महायुद्ध शुरू हुआ। इसमें भारतीय जनता ने इंगलैंड को आदमियों और रुपये से खूब मदद दी। लेकिन जब इसके बाद भी यहाँ लोकमत को ठुकरा कर रोलेट बिल पास किया गया तो हमारे कितने ही आशावादी नेताओं को भी सरकारी वादों में विश्वास न रहा। काँग्रेस-इतिहास का दूसरा युग १९१९ में समाप्त हुआ, कहा जा सकता है।

सन् १९१९ ई० से महात्मा गाँधी के झण्डे के नीचे काँग्रेस धीरे धीरे सर्वसाधारण जनता तक पहुँची और सत्याग्रह और असहयोग के साधनों का उपयोग करने लगी। उसकी नीति अहिन्सा

की ही रही। तो भी सरकार ने घोर दमन किया। लेकिन जनता ने भी अजीब साहस का परिचय दिया। इस तरह देश में कांग्रेस द्वारा खूब जागृति हुई।

सत्याग्रह और असहयोग--सत्याग्रही अपने शत्रु को दुःख देकर उस पर पाशविक या हैवानी विजय पाना नहीं चाहता; वह खुद कष्ट उठाता है, अपना आत्मबल बढ़ाता है, और दूसरों पर आत्मिक विजय पाता है। भारत में व्यक्तिगत या सामाजिक सत्याग्रह के बहुत से चमकीले उदाहरण मिलते हैं, पर राजनैतिक या राष्ट्रीय सत्याग्रह का खास विकास इसी काल में हुआ है। इसके चलाने वाले महात्मा गांधी हैं। इसी तरह जनता के दुखों पर ध्यान न देनेवाले राजा या सरकार से असहयोग करनेकी नीति और कार्य ठहराने का यश भी महात्मा गांधी को ही है। समय उचित और योग्य था। सरकार पर से जनता का विश्वास उठ रहा था। महात्मा गांधी का बीज उपजाऊ भूमि पर पड़ा और उसने धीरे-धीरे जड़ पकड़ ली। हज़ारों आदमियों ने सरकारी नौकरी छोड़ दी; सर्वसाधारण की दृष्टि में इस नौकरी का मान घट गया। कौंसिलों का पहले जैसा मोह न रहा। यदि राष्ट्रीवादी उनमें गये, तो केवल उस बुराई को कम करने के लिए जो दूसरे आदमी सरकारी कठपुतली बनकर वहां कर सकते हैं; अथवा सरकार को एवं संसार को मौजूदा शासन-पद्धति की अनीति, और भारतीय जनता की वास्तविक मांग, बताने के लिए। असहयोग का आख़िरी काम सरकार को उसके कार्यों के लिए कर न देना है। जब यह कार्य अच्छी तरह पूरा हो जाता है तो सरकार की शान का ऊँचा महल सहज ही दह जाता है। पिछले आंदोलन में यह कार्य करने की भी बात उठी थी, पर उसका कुछ ज्यादह प्रयोग नहीं किया गया। क्या भविष्य में इसका अवसर आयेगा?

सत्याग्रह और असहयोग चलाना कुछ सहज बात नहीं है; सर्वसाधारण से हर समय और हर हालत में मज़बूती और धीरज की आशा नहीं की जा सकती। इसके लिए उससे भी अधिक शिक्षण और अनुशासन की आवश्यकता है, जितनी सैनिक योग्यता के लिए होती है। अकसर ऐसा होता है कि बहुत कोशिश करने पर भी एक-दो आदमियों से भूल हो जाती है, और सब मामला

बिगड़ जाने की आशंका होती है। इसलिए महात्मा गाँधी को समय-समय पर इन अस्त्रों के प्रयोग मुलतवी करना या रोकना पड़ा है। जो हो, इनकी अमोघ शक्ति से कोई इनकार नहीं कर सकता।

राष्ट्रीय सप्ताह—१३ अप्रैल १९१९ को अमृतसर में सरकारी दमन की वह क्रूर घटना हुई, जिसे आमतौर पर 'जलियांवाला बाग कांड' कहा जाता है, इसकी याद में हर वर्ष ६ से १३ अप्रैल तक राष्ट्रीय सप्ताह मनाया जाता है, जिससे स्वाधीनता प्राप्त करने और उसकी रक्षा करने की बात जनता के सामने बनी रहे। राष्ट्रीय सप्ताह में रचनात्मक कामों की तरफ खास तौर से ध्यान दिया जाता है।

रचनात्मक कार्य—स्वाधीनता के लिए म० गांधी रचनात्मक कार्यों को सबसे अधिक महत्व देते रहे हैं। ये कार्य नीचे लिखे हैं—(१) साम्प्रदायिक एकता (२) अस्पृश्यता दूर करना, (३) नशाखोरी हटाना (४) खादी प्रचार, (५) ग्रामोद्योग, (६) गांवों की सफाई, (७) बुनियादी शिक्षा, (८) प्रौढ़ शिक्षा, (९) स्त्रियों की उन्नति, (१०) स्वास्थ्य और सफाई की शिक्षा (११) राष्ट्र-भाषा का प्रचार, (१२) अपनी भाषा से प्रेम, (१३) आर्थिक समानता, (१४) किसानों, मजदूरों और विद्यार्थियों का संगठन। इन कार्यों की शिक्षा और व्यवस्था के लिए चर्खा-संघ की ओर से कई संस्थाएँ अपने-अपने क्षेत्र का कार्य करती आ रही हैं। रचनात्मक कार्यक्रम के साधारण ज्ञान की शिक्षा (ट्रेनिंग) देने के लिए जनवरी १९४५ से, सेवाग्राम (वर्धा) में एक ग्राम-कार्यकर्ता ट्रेनिंग केम्प (शिक्षण शिविर) खोला गया था। इसमें १०५ सज्जनों ने एक माह तक शिक्षा पायी। समय समय पर फिर ट्रेनिङ्ग केम्प की व्यवस्था की जाने की आशा है।

औपनिवेशिक स्वराज्य और स्वाधीनता—पहले भारतवर्ष का राजनैतिक ध्येय औपनिवेशिक स्वराज्य ('डोमीनियन स्टेटस')

यानी ऐसे शासन का अधिकार पाना था, जैसा कि ब्रिटिश साम्राज्य के स्वाधीन उपनिवेशों में है। ब्रिटिश अधिकारियों के व्यवहार से, इस देश का प्रगतिशील या अगुआ दल उस राजनैतिक ध्येय से असंतुष्ट होता गया। लोकमान्य तिलक ने निडर होकर घोषणा की कि 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, और हम उसे लेंगे।' तब से कांग्रेस में स्वराज्य की बात खास तौर से उठने लगी। सन् १९२७ ई० की मद्रास कांग्रेस के प्रस्ताव के अनुसार खुलासा शासन-योजना बनायी गयी। अगले वर्ष कलकत्ता कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार को एक साल का समय दिया कि वह इस बीच में भारतवर्ष में पूर्ण उत्तरदायी शासन कायम करे। ३१ दिसम्बर सन् १९२९ ई० तक वह योजना ब्रिटिश सरकार द्वारा मंजूर न किये जाने पर, कांग्रेस के उद्देश्य से भारतवर्ष के ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर रहने की बात निकाल दी गयी। निश्चय किया गया कि भारतवर्ष की राष्ट्रीय माँग पूर्ण स्वाधीनता या मुकम्मल आज़ादी है। संसार के दूसरे हिस्सों की तरह ब्रिटिश साम्राज्य के देशों से भी, भारतवर्ष का मित्रता और बराबरी का बर्ताव रह सकता है, लेकिन यह तभी मुमकिन है, जब इङ्गलैण्ड आदि अपने स्वार्थ और अहङ्कार यानी घमंड को छोड़ कर भाईचारे और प्रेम का परिचय दें।

स्वाधीनता-दिवस और प्रतिज्ञा—सन् १९२९ ई० की ३१ दिसम्बर को रात के ठीक बारह बजे लाहौर में, रावी तट पर कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास किया था। तब से प्रति वर्ष २६ जनवरी को स्वाधीनता-दिवस मनाया जाता है। उस शुभ दिन हम स्वराज्य की प्रतिज्ञा दोहराते हैं, उसमें अपना विश्वास प्रकट करते हैं, और उस ध्येय की ओर बढ़ने के उपायों का विचार करते हैं, जिससे

स्वाधीनता का आन्दोलन ज़रा भी ढीला न होने पाये। सन् १६४५ में संयुक्तप्रान्त में स्वाधीनता की प्रतिज्ञा का रूप यह रहा—

स्वराज्य हर देश का स्वाभाविक अधिकार है। दुनियाँ में दुराचार, बेईमानी, गरीबी, अकाल और मारकाट का बुनियादी कारण यह है कि एक देश दूसरे देश को अपनी हुकूमत में लाकर उसके उद्योग धन्धों को रोकना और वहाँ अपनी बनाई चीज़ें बेच कर लाभ उठाना चाहता है, या इसी तरह का दूसरा मतलब पूरा करना चाहता है। जो भी देश दूसरे देश पर हुकूमत करता है, वह संसार में बुराई और अत्याचार फैलाता है और मनुष्यमात्र का दुश्मन है। संसार को दुखों से बचाने का यही रास्ता है कि साम्राज्यवाद और दूसरे देशों पर हुकूमत करने का दस्तूर, कड़ाई के साथ, सब देश मिलकर बन्द करें। जो देश अपनी कमजोरी से दूसरे देश की हुकूमत के नीचे दब गये हैं, उनका धर्म है कि दबी हुई हालत में भी अपनी शक्ति का सङ्गठन करें और इतनी ताकत लगावें कि अपने ऊपर चढ़े हुए देश से अपनी रिहाई कर सकें।

हमारे देश पर ब्रिटेन की हुकूमत उसके अपने नीच मतलबों के लिए चल रही है। हम ब्रिटेन से अपना पिंड छुड़ाना चाहते हैं, और वर्षों से इस यत्न में हैं। संसार भर के देशों को आजाद करने का सब से पहला कदम यही है कि हम अपने देश को ब्रिटेन के चङ्गुल से बाहर निकालें।

आज स्वतन्त्रता-दिवस पर हम फिर प्रतिज्ञा करते हैं कि ठोस रचनात्मक कामों से हम अपनी शक्ति बढ़ाते जायंगे और जब तक जीतकर हम अपनी स्वाधीनता नहीं पा लेते तब तक उसके लिए त्याग करते रहेंगे और लगातार लड़ाई जारी रखेंगे।

जब म० गाँधी आगाखाँ महल में नजरबन्द थे, तब उन्होंने स्वाधीनता-दिवस के लिए नीचे दी हुई प्रतिज्ञा लिखी थी। यह प्रतिज्ञा उन्होंने अपने साथियों सहित ८ और ६ अगस्त १६४२* के वार्षिक दिवसों और १६४३ और १६४४ के स्वाधीनता-दिवसों पर दोहरायी थी :—

वर्षों से मेरा ध्येय सत्य और अहिंसा के द्वारा भारतवर्ष के लिए

* देखिए, पृष्ठ १२४ और २५।

स्वाधीनता प्राप्त करना रहा है और अब भी है। इसी ध्येय को प्राप्त करने के लिए मैं आज स्वाधीनता के अवसर पर फिर प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब तक स्वाधीनता प्राप्त न हो जायगी, उस समय तक मैं चैन न लूँगा; और न उन लोगों को चैन लेने दूंगा जिन पर मेरा प्रभाव है। अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए मैं दिखायी न देने वाली उस दैवी शक्ति की सहायता चाहता हूँ, जिसे आदमी 'गाड', अल्लाह और परमात्मा आदि नामों से याद किया करते हैं।

नया विधान—सन १९३५ के विधान के अनुसार भारतवर्ष में १९३७ में 'प्रान्तीय स्वराज्य' कायम हुआ, और केन्द्रीय सरकार का स्वरूप 'संघ शासन' निश्चय किया गया, जिसमें ब्रिटिश भारत और देशी राज्य दोनों शामिल हों। सिद्धान्त से सङ्घ-शासन भारतवर्ष के लिए बहुत अच्छा है, लेकिन उस विधान में उसका जो स्वरूप ठहराया गया था, वह बहुत असंतोषप्रद था, वह अमल में नहीं आ सका। अन्त में (दूसरा) योरपीय महायुद्ध शुरू हो जाने पर सरकार ने उसे मुल्तवी ही कर दिया। केन्द्रीय व्यवस्थापक मंडल का नया चुनाव नहीं किया गया। उसकी मियाद बढ़ायी जाती रही। कार्यकारिणी कौंसिल के सदस्यों की संख्या बढ़ायी गयी, लेकिन वह कौंसिल न तो जनता का मत जाहिर करने वाली हुई, और न उसके प्रति उत्तरदायी ही।

अब प्रान्तीय स्वराज्य की बात लें। यह सन् १९३७ में अमल में आने लगा था। यह 'स्वराज्य' चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों को नहीं था; यह सिर्फ गवर्नरों के प्रान्तों को था, जो संख्या में ११ हैं। इनमें भी विधान के अनुसार गवर्नरों को कई तरह के विशेष अधिकार थे, और मंत्रिमंडलों तथा व्यवस्थापक मंडलों के अधिकार बहुत कम थे। छः प्रान्तों में प्रतिक्रियावादी दूसरी सभाओं की स्थापना की गयी

थी। मत देने का अधिकार जरूर बढ़ाया गया था, परन्तु उसे साम्प्रदायिकता में रङ्ग कर सब गुड़ गोबर कर दिया था। आठ प्रान्तों में कांग्रेस-शासन जारी हुआ था, पर वह केवल ढाई वर्ष रहा। सन १६३६ में, योरप में दूसरा महायुद्ध छिड़ने पर ब्रिटिश सरकार ने, भारतवर्ष की प्रांतीय सरकारों की राय लिये बिना ही, इस देश को लड़नेवाला ठहरा दिया, और वह यहाँ युद्ध सम्बन्धी तैयारी करने लगी। कांग्रेसी सरकारों ने ब्रिटिश सरकार से युद्ध का उद्देश्य पूछा और, इसका उत्तर सन्तोषजनक न पाकर त्यागपत्र दे दिया। इस पर गवर्नरों ने, जिन प्रान्तों में काँग्रेसी मंत्रिमंडल थे, उनमें शासनविधान स्थगित करके सब अधिकार अपने हाथ में ले लिये। पीछे कुछ प्रान्तों में साम्प्रदायिक और अराष्ट्रीय मंत्रिमण्डल बनाये गये।* खासकर बङ्गाल और सिंध में गवर्नरों के व्यवहार ने यह बात अच्छी तरह जाहिर कर दी कि सन् १६३५ के विधान के अनुसार 'प्रान्तीय स्वराज्य' निरा ढकोसला ही है।

'भारत छोड़ो'—प्रस्ताव और उसके बाद—क्रिप्स योजना का जिक्र पिछले परिच्छेद में किया जा चुका है। उसमें भारतवर्ष को युद्ध के बाद कुछ शर्तों के साथ औपनिवेशिक स्वराज्य देने की बात कही गयी थी; यह स्पष्ट था कि कम-से-कम युद्ध-काल में ब्रिटिश सरकार भारतीय जनता को कोई खास अधिकार देना नहीं चाहती थी। काँग्रेस ने उस योजना को नामञ्जूर किया।† उसने ८ अगस्त १६४२

---

*पुस्तक छपते समय पश्चिमोत्तर-सीमा-प्रान्त में काग्रेसी मन्त्रिमंडल और, आसाम में सम्मिलित मन्त्रि मन्डल है। सम्भव है, दूसरे प्रान्तों में भी इस तरह के मंडलमण्डल बनें।

† हिन्दू महासभा, मुसलिम लीग या और भी कोई मुख्य दल इस योजना से संतुष्ट न हुआ।

को निश्चय किया कि अब अंगरेज भारतवर्ष को छोड़ दें, यहाँ शासक के रूप में न रहें, और भारतवर्ष की अपनी रक्षा स्वयं करने दें; हाँ, चीन आदि की सहायता के लिए युद्ध के समय ब्रिटिश या अमरीकन सेनाएँ यहाँ रह सकती हैं। सरकार को ऐसो बात कैसे अच्छी लगती! उसने अगले ही दिन कांग्रेस के अनेक कार्यकर्ताओं को बिना मुकदमा चलाए ही कैद या नजरबन्द कर दिया। इससे जनता बेचैन हो गयी और जगह जगह ऐसे कार्य किये जाने लगे, जिनसे सवारी, माल ढोने और दूसरे सरकारी कार्यों में बाधा हो। कहीं कहीं हिन्सात्मक घटनाएँ भी हुईं। सरकार ने जनता के असंतोष को दूर न करके घोर दमन से काम लिया। उसने इन घटनाओं के लिए कांग्रेस को दोषी ठहराया, और एक पुस्तक प्रकाशित की—"अगस्त १९४२ के दङ्गों के लिए कांग्रेस की जिम्मेवारी"। इसका खुलासा उत्तर देते हुए म० गांधी ने लिखा कि मैंने या किसी कांग्रेस-लीडर ने हिन्सा का कभी विचार नहीं किया, मैंने कभी जन-आंदोलन आरम्भ नही किया; मेरा विचार सरकार से समझौते की बात चलाने का था। उपद्रव गिरफ्तारियों के बाद हुए, उनका कारण गिरफ्तारियाँ ही थीं। अगर सरकार का मत इसके विपरीत है तो वह इस बात का एक निस्पक्ष अदालत से विचार कराये।

सरकार, इन बातों पर कोई ध्यान न देकर, अपना ही राग अलापती रही। उसने अमरीका आदि में कांग्रेस को बदनाम करने में तो लाखों रुपया खर्च किया, लेकिन भारतीय जनता का असन्तोष दूर करने के लिए राष्ट्रीय सरकार की स्थापना न की। सरकार यह कहती रही है कि भारतवर्ष में देशी राज्यों, मुसलमान आदि अल्पसंख्यकों, और हरिजनों आदि की समस्याएँ हैं। जाननेवाले भली भाँति जानते

हैं कि ये समस्याएँ ब्रिटिश साम्राज्यवाद की देन है, उससे भारतवर्ष का छुटकारा होने पर ये खुद ही बहुत कुछ हल हो जायँगी; और, ये भारत-वर्ष की घरू समस्याएँ हैं, इनके कारण भारतवर्ष को शासन-अधिकार देने में ढील ढाल करना अनुचित है। राष्ट्रीय सरकार न होने से यहाँ युद्ध-काल में लोगों को बेहद कष्ट रहा। घूस (रिश्वत) चोर बाजार, और मुनाफेखोरी का खूब जोर रहा। खाने पहनने की चीज़ों पर सरकार का कड़ा कन्ट्रोल या नियन्त्रण जरूर रहा, लेकिन साधारण हैसियत के आदमियों को ये चीजें मिलने में बहुत कठिनाई हुई, और बहुत से आदमियों की मामूली ज़रूरतें भी पूरी न हो पायी। अकाल मंहगाई और बीमारी ने जनता को भारी संकट में डाल दिया। अकेले बंगाल प्रान्त में, सरकारी रिपोर्टों के अनुसार भी दस लाख आदमी अपने प्राण गँवा बैठे; गैर-सरकारी अनुमान तो और भी अधिक है। दूसरे प्रान्तों में भी लोगों को बहुत मुसीबतें रही। कपड़े न मिलने के कारण कितनी ही आत्म-हत्याएँ तक हुई हैं। इस समय भी बहुत सी चीजों के दाम, युद्ध से पहले की अपेक्षा तिगुने चौगुने और कुछ के तो अठ गुने दस गुने या इससे भी ज्यादह हैं। पुनर्निर्माण के लिए सरकारी और गैर-सरकारी कई योजनाएँ बनायी गयी हैं, और बनती जा रही हैं। लेकिन राष्ट्रीय सरकार के न होने की हालत में, वे सब बेकार हैं। उसके बिना रचनात्मक कार्य में भी बहुत सी बाधाएँ आती रही हैं।

वेवल योजना—सन् १९३९ में जो राजनैतिक गतिरोध हुआ, वह सन् १९४५ तक चलता रहा। इस वर्ष उसे दूर करने के लिए गवर्नर जनरल लार्ड वेवल ने ब्रिटिश अधिकारियों से सलाह-मशविरा करके जून महीने में भारतीय नेताओं के सामने एक योजना रखी, उसकी

मुख्य बातें ये हैं—

१—वायसराय की कार्यकारिणी कौंसिल के सब सदस्य, वायसराय और जङ्गी लाट को छोड़कर, हिन्दुस्तानी होंगे। २—ये सदस्य विविध राजनैतिक दलों के प्रतिनिधि होंगे; इनकी नियुक्ति ब्रिटिश सम्राट् द्वारा होगी। ३—अर्थ, गृह (स्वदेश) और विदेश विभाग भी हिन्दुस्तानी सदस्यों के सुपुर्द होंगे। ४—सदस्यों में हरिजन, योरपीयन और सिक्ख प्रतिनिधियों के अतिरिक्त, ५० फी सदी हिन्दू, और ५० फी सदी मुसलिम होंगे। ५—वायसराय को वीटो (निषेध)—अधिकार रहेगा पर वह उसे, जहाँ तक हो सकेगा, इस्तेमाल नहीं करेगा। ६—यह व्यवस्था लड़ाई के समय के लिए है; इस बीच में नया विधान बना लिया जायगा, लड़ाई के बाद उसके अनुसार अमल होगा। ७—आशा है, यह कौंसिल जापान को हटाने में पूरी मदद देगी। ८—प्रान्तों में विधान की दफा ९३ हट कर मंत्रिमंडल बन जायंगे, जो सम्मिलित या मिले-जुले होंगे। ९—कांग्रेस की वर्किंग कमेटी के सदस्य कल छूट जायँगे; सन् १९४२ के दूसरे नजरबन्दों की रिहाई का सवाल नयी कौंसिल और नये मंत्रिमंडलों पर छोड़ दिया गया है। १०—कांग्रेस-संस्थाओं को कानूनी करार देने का सवाल भी प्रान्तीय सरकारों पर छोड़ा गया है। ११—केन्द्रीय और प्रान्तीय व्यवस्थापक सभाओं के चुनाव का समय नेताओं की कान्फ्रेंस तय करेगी; यदि कान्फ्रेंस सफल न हुई तो पुरानी कार्यकारिणी बनी रहेगी। १२—इस व्यवस्था से देशी राज्यों के बारे में कोई अन्तर नहीं होगा। १३—ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत में आर्थिक तथा दूसरे हितों की रक्षा के लिए एक हाई कमिश्नर नियुक्त होगा।

इस योजना साथ ही भारतमंत्री मि० एमेरी ने यह घोषणा की कि इस योजना में क्रिप्स योजना भी शामिल है।

इस योजना पर विचार करने के लिए लार्ड वेवल ने २५ जून को शिमले में भारतीय नेताओं की कान्फ्रेन्स बुलाई। योजना के बारे में नेताओं को कितनी ही शिकायतें थीं, पर कान्फ्रेन्स के काम के खास उलझन यह आयी कि मिस्टर जिन्ना ने यह दावा किया कि केन्द्रीय सरकार के लिए सभी मुसलिम सदस्यों का चुनाव सिर्फ मुसलिम लीग

ही कर सकती है। अगर कांग्रेस इस दावे को मान ले तो वह एक साम्प्रदायिक या हिन्दू संस्था रह जाय; जबकि स्थिति यह है कि उसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पार्सी सभी जाति और सभी धर्मों के आदमी हैं, और उसका सब काम राष्ट्रीय दृष्टि से होता है। उधर, मुसलमानों के कई वर्ग—मोमिन, शिया, अहरार, खाकसार दल और यूनियन दल आदि—ऐसे हैं जो अधिकांश में मुसलिम लीग से बाहर हैं। भारतवर्ष के नौ करोड़ मुसलमानों में साढ़े चार करोड़ तो अकेले मोमिन ही है। फिर, मुसलिम बहुमत वाले पांचों प्रान्तों में से एक में भी मुसलिम लीग की स्वावलम्बी सरकार नहीं है। पंजाब में यूनियन पार्टी की सरकार है; पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में काँग्रेस सरकार है; बंगाल में लीग का मंत्रिमंडल योरपियन दल के सहारे था, वह गिर गया है; सिंध और आसाम के मंत्रिमंडल कांग्रेस की सहायता से ही बने हुए हैं। यह होते हुए भी मि० जिन्ना ने अपना ऊपर बताया हुआ दावा कायम रखा, इस पर लार्ड वेवल ने कान्फ्रेंस असफल होने की घोषणा कर दी। उन्हें चाहिए था कि अडंगा डालने वाले (मि० जिन्ना) के प्रति कड़ा रुख रखते, और दूसरे योग्य सदस्यों की सरकार बनाते। यह समझा जाता है कि वेवल योजना असफल होने में ब्रिटिश सरकार का हाथ है।

यह स्पष्ट ही है कि यह योजना थोड़े समय के लिए, सिर्फ कामचलाऊ ही थी; इससे राष्ट्रीय सरकार की स्थापना नहीं होती थी। हाँ, इससे जनता के वर्तमान संकट दूर होने और भारतवर्ष की आजादी का रास्ता साफ होने में कुछ मदद मिल सकती थी। इसी विचार से काँग्रेस ने इसे सफल करने की कोशिश की थी; वैसे उसका ध्येय तो देश को स्वाधीन और स्वावलम्बी बनाना ही है।

राष्ट्र-रक्षा—इस समय इस देश की रक्षा का प्रबन्ध ब्रिटिश सरकार करती है; वह कितना खर्चीला है, उससे कितनी आर्थिक और दूसरी हानि होती है, यह हम अपनी 'भारतीय राजस्व' पुस्तक में बता चुके हैं। ब्रिटिश सरकार की अधीनता में भारतीय सेना का खास उद्देश्य यह है कि वह ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा में मदद दे और भारतवर्ष को अंगरेजों के बंधन से छुटकारा न पाने दे। यह बात अब बर्दाश्त नहीं होती। वर्तमान महायुद्ध ने भली भाँति दिखा दिया है कि ब्रिटिश सेनाओं के भरोसे अपनी रक्षा के बारे में बेफिक्र रहना खतरे से खाली नहीं। स्वाधीनता प्राप्त करने पर हम अपने राष्ट्र की रक्षा खुद करेंगे। हम किसी देश की आजादी छीनना नहीं चाहते, इसलिए संसार के बहुत से राष्ट्रों से हमारी मित्रता होगी और हमें सैनिक व्यवस्था की बहुत चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी। तो भी भारत माता के सुपुत्र कहलाने वाले हर आदमी का कर्त्तव्य है कि जरूरत होने पर वह देश-रक्षा के लिए अपने प्राण न्योछावर करने को तैयार रहे। इसके वास्ते जरूरी है कि देश-रक्षा सम्बन्धी व्यावहारिक ज्ञान के लिए न सिर्फ सैनिक शिक्षा की व्यवस्था हो, बल्कि अहिंसा भाव से विरोध करने की शिक्षा की भी।

कुछ बेसमझ मुसलमान कहते हैं कि यदि बाहर की कोई मुसलिम ताक़त भारतवर्ष पर हमला करेगी तो वे इस देश की रक्षा करने के बजाय उस मुसलिम ताकत का साथ देंगे। वे भूल जाते हैं कि अफ-गानिस्तान, टर्की और इराक आदि स्वतन्त्र मुसलिम राज्य भारतवर्ष के मुसलमानों की विदेश-भक्ति को दक़ियानूसी, मूर्खतापूर्ण और हास्या-स्पद समझते हैं। खुशी की बात है कि विचारशील मुसलमान अपने भाइयों का इस विषय में ठीक पथ-प्रदर्शन या रहनुमाई करते रहते हैं।

कुछ समय हुआ, श्री० मुहम्मद जैनुल आबदीन एम० एस०-सी०, एल-एल० बी० ने लिखा था—हम लोग यह नहीं जानते कि हमारे बारे में बाहरी मुसलमानों का क्या ख्याल है। हम लोग शायद १९१८ का जमाना भूल गये, जब हमने पागलपन के झोकों में आकर हिजरत की थी। अफगान सरकार ने हमें डंडे मार मार कर अपनी सरहद के बाहर खदेड़ दिया था। इतने पर भी हम अरब में जाकर इस्लाम की लड़ाई लड़ने का ख्वाब देखते हैं। जरूरत इस बात की है कि हम सब लोग मिलकर हिन्दुस्तान की बहबूदी पर गौर करें।"

भारतवर्ष की स्वाधीनता से संसार का हित—एक बात का विचार और। भारतवर्ष के साम्राज्यवादी प्रभु यहाँ की सेना और धन उन लोगों से लड़ने के लिए, और उन्हें अपने अधीन करने के लिए भेजते रहते हैं, जिनसे हमारा कोई झगड़ा नहीं है। भारतवर्ष इस लाचारी की हालत से ऊब गया है। वह चाहता है कि अब उसकी शक्ति का उपयोग दूसरों को लूटने या दमन करने में न किया जाय। इसके लिए यह जरूरी है कि हिन्दुस्तान खुद अपना मालिक हो, वह दूसरे के हाथ की कठपुतली न रहे।

क्या आजादी हासिल करके भारतवर्ष अपने ऊपर इतना संयम रख सकेगा कि वह दूसरों को न लूटे? क्या वह दूसरों के खून का प्यासा न हो जायगा? भारतवर्ष की अहिन्सा नीति इस बात की जबरदस्त गारंटी है कि जिस तरह वह किसी का दास होना पसन्द नहीं करता, उसी प्रकार वह किसी को गुलाम बनाना भी पसन्द न करेगा। यही नहीं, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' यानी दुनिया भर को अपना परिवार मानने के कारण वह दूसरे राष्ट्रों को भी किसी कमजोर जाति या देश पर हमला करने से रोकेगा, वह अपनी ताक़त दूसरों की स्वाधीनता आदि की रक्षा करने में लगायेगा। हाँ, जब तक भारतवर्ष खुद एक कमजोर और गुलाम देश है, उसके मानव हित के उपदेश का मजाक होता रहेगा। इस तरह भारतवर्ष की स्वाधीनता से न सिर्फ इस देश का, बल्कि संसार के सभी देशों का कल्याण होगा। शुभम्।

परिशिष्ट—१

हिन्दुस्तान किसका

मेरी टूटी मड़ैया में राज रहे, कोई गैर न दस्तनदाज रहे।
बस हिन्द मेरा आजाद रहे, माता के सर पर ताज रहे॥

'हिन्दुस्तान किसका?' यह सवाल कुछ अटपटा है; और इस देश का अपमान करने वाला है। जो आदमी हमसे ऐसा सवाल करे, उसी से यह पूछा जाय कि इंगलैंड किसका, या जर्मनी किसका, रूस किसका, चीन किसका, और अफगानिस्तान किसका, इत्यादि। ऐसे प्रश्न अनावश्यक समझे जाते हैं, और इन्हें पूछने वाले को अनसमझ कहा जाता है। हरेक आज़ाद देश वहाँ की संतान का, वहा के निवासियों का, वहां के नागरिकों का माना जाता है। इसमें किसी को कोई शंका नहीं होती। पर जिन अभागे देशों की स्वाधीनता नहीं होती, वे लावारिस माल की तरह समझे जाते हैं। जिस राष्ट्र या जाति का उन पर राज्य होता है, वह तो उन्हें अपना माल, जागीर या जायदाद समझती ही है, दूसरे राज्यों की भी ललचायी हुई आंखें उनकी ओर लगी रहती हैं। वे सोचते हैं कि कब मौका लगे और कब हम इन पर अपना कब्जा कर सकें। इस तरह गुलाम देश की पराधीनता आज़ाद राष्ट्रों का लोभ और ईर्ष्या बढ़ाकर उन्हें भी आपस में लड़ने की प्रेरणा करती रहता है।

हिन्दुस्तान के सम्बन्ध में—विचार करने से यह भी साफ मालूम हो जाता है कि पराधीन देशों पर विदेशी अधिकारी तो अपना अधिकार जताते ही हैं, खुद उस देश के निवासियों में भी आपस में मतभेद और कटुता होती है। अकसर यह मतभेद और कटुता शासकों द्वारा पैदा की हुई होती है, या कम से कम उनके द्वारा बढ़ायी हुई होती है। आपस की फूट देश को गुलाम बनाती है, फिर शासक इस फूट की बेल को सींचते रहते हैं। इससे गुलामी की मियाद बढ़ती जाती है। इसलिए स्वाधीनता चाहने वाले देशों की जनता को इस ओर बहुत सावधान या चौकस रहने की ज़रूरत है। उन्हें

ऐसी आवाज़ नहीं उठानी चाहिए कि यह देश यहाँ की उस जाति या धर्म वालों का नहीं है।

हिन्दुओं का कथन—अगर कुछ भूले भटके हिन्दू यह कहें कि यह देश केवल हमारा है, और मुसलमान, ईसाई आदि ग़ैर लोग हैं, तो यह बात गलत और अनुचित है। यह ठीक है कि हिन्दू यहाँ बहुत लम्बे अर्से से रहते आये हैं, और इस देश को अपनी मातृभूमि और धर्म-भूमि मानते हैं, परन्तु कुछ ऐतिहासिकों की यह भी तो राय है कि उनसे या आर्यों से पहले यहाँ द्रविड़ आदि दूसरी ज़ातियों के आदमी रहते थे, जिन्हें हराकर आर्यों ने यहाँ अधिकार जमाया। इस बारे में अभी बहुत मत-भेद है, किसी मत की सचाई अच्छी तरह साबित नहीं हुई है। तो भी यह विचार करने की बात है ही कि आर्य या हिन्दू अब कोई पूरे तौर से शुद्ध जाति नहीं हैं। इसमें बहुतसे हूण, सीथियन, यूनानी आदि लोगों की मिलावट है, जो समय-समय पर कई कारणों से, खासकर हमला करने वाले के रूप में यहाँ आये और पीछे इसी देश के निवासी बने, और इसी के प्रति अपनी भक्ति-भावना रखने लगे; यहाँ तक कि उन्होंने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं रखा। इस तरह यह देश उन लोगों का भी उतना ही है, जितना कि अपने आपको शुद्ध माननेवाली आर्य जाति का। यह संतोष की बात है कि अकसर हिन्दू जहाँ भारतवर्ष को अपनी जन्मभूमि कहकर इसका आदर-मान करते हैं, वहाँ वे दूसरे आदमियों को भी ऐसा करने का बराबर अधिकार देते हैं।

मुसलमानों का विचार—बहुत से मुसलमान कवियों, लेखकों, राजनीतिज्ञों एवं शासकों ने जिस तरह इस भूमि की सेवा करने में अपना तन, मन, धन न्योछावर किया है, वह भारतीय इतिहास में न मिटने वाले अक्षरों में लिखा है। आज दिन भी कितने ही माई के लाल अपनी-अपनी शक्ति तथा योग्यता के अनुसार इस माता की सेवा में लगे हुए हैं। हाँ, कुछ मुसलमान ऐसे भी हैं, जो अपने अपने निजी स्वार्थ से, या शासकों का इशारा पाकर, एक अलग बेसुरा राग अलाप रहे हैं। और, दुर्भाग्य से मौजूदा हालत में इनका राग बहुत जोर-शोर से जनता को सुनाया जा रहा है। इनका कहना है कि अंगरेजों से पहले यहाँ हमारे पूर्वजों का राज था, अंगरेज़ों ने हमसे ही इस देश को लिया है; एक शासक जाति के होने के कारण हमारा खास महत्व

है। इसलिए अंगरेजों को यहाँ की हुकूमत में हमें खास स्थान देना चाहिए। जहाँ हमारा अल्पमत है, वहाँ अल्पमत की रक्षा के लिए; और जहाँ हमारा बहुमत है, वहाँ बहुमत के कारण; हमें विशेष अधिकार मिलने चाहिएँ। पिछले दिनों तो उनका यह दावा रहा है कि हम एक महत्वपूर्ण जाति ही नहीं, हम एक जुदा राष्ट्र हैं और इसलिए मुसलिम बहुमत प्रान्तों को 'पाकिस्तान' के रूप में स्वतन्त्र शासन करने का अधिकार होना चाहिए। इस विषय में पहले लिखा जा चुका है।

भारतवर्ष की दूसरी जातियों की बात—यह खुशी की बात है कि पारसियों, ईसाइयों या एँगलो-इंडियनों ने सामूहिक रूप से इस देश को टुकड़े-टुकड़े करने की बात नहीं उठायी और न अपने लिए विशेष अधिकारों का दावा ही किया। सिक्खों ने कुछ मुसलमानों की देखा-देखी भले ही कुछ साम्प्रदायिक भावनाएँ जाहिर की हों, नहीं तो वे राष्ट्रीय विचार रखते रहे हैं। इस तरह, ज्यादहतर आदमी यहाँ राष्ट्र-हित की दृष्टि से ही विचार करना चाहते हैं। ये अपने आपस के मतभेदों का खुद फैसला करने के पक्ष में हैं। ये अपने घरू मामले में दूसरे को मध्यस्थ बनाना या बन्दर-बाँट-न्याय कराना, नहीं चाहते।

अंगरेजों का दावा—अंगरेज़ों का यह दावा बना ही है कि हमारे बिना भारतवर्ष अपनी रक्षा नहीं कर सकता। हम ही यहाँ शान्ति और सुव्यवस्था रखते हैं। इसमें हमारा कोई स्वार्थ नहीं है, हम तो परोपकार के लिए इस भार को उठा रहे हैं। अंगरेजों की नीति है कि 'मान न मान, मैं तेरा मेह-मान।' भारतवर्ष से बेहद लाभ उठाते रहने के लिए इन्होंने यहाँ हिन्दू-मुसलिम, देशी राज्य, और हरिजनों आदि की समस्याएँ खड़ी कर दीं या बढ़ा दीं। म० गाँधी ने इनसे कह दिया है कि महाराज! हमारी चिन्ता छोड़ो; तुम्हें भी आराम मिले और हमारा भी आर्थिक, नैतिक या सांस्कृतिक शोषण बन्द हो; हम अपना विकास कर सकें, और दूसरों के विकास में मदद दे सकें।

हिन्दुस्तान हिन्दुस्तानियों का—ज़रूरत है कि सब आदमी यह सिद्धांत मानें और अमल में लावें कि हिन्दुस्तान हिन्दुस्तानियों का है। हिन्दुस्तानियों में हम उन सब आदमियों को शामिल करते हैं, जो यहाँ स्थायी रूप से रहें, इस देश को अपनी कर्मभूमि समझें और इस का हित-साधन शुद्ध सच्चे

हृदय से करें। हम हिन्दू-मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी, ऐंग्लो-इंडियन आदि का भेद नहीं मानते। गोरे, काले, पीले सब रंगों, जातियों और धर्मों के आदमियों को बराबर समझते हैं; शर्त यही है कि वे भी इसे अपनी मातृ-भूमि की तरह मानें। अच्छा, क्या भारतवर्ष में सवर्णों, जमींदार, पूँजीपतियों और राजाओं तथा सरकारी पदाधिकारियों का बोलबाला रहेगा? इसका जवाब साफ़ है हम शोषण, अत्याचार या दमन नहीं चाहते; चाहे उसे विदेशी करें या चाहे हमारे ही देश वाले करें। हथकड़ी या बेड़ी बुरी है, वे लोहे की हों या सोने की। हिन्दुस्तान उन्हीं लोगों का होगा, जो खुद आज़ाद या स्वतन्त्र हों, और दूसरों की स्वतन्त्रता के हामी हों, जो खुद ऊँचे वर्ण या जाति के होने की दशा में, दूसरों को नीच माननेवाले न हों; खुद राजा, पूँजीपति या ज़मींदार होकर दूसरों को दीन और दरिद्र बनानेवाले न हों। हम किसी वर्ग का ख़ात्मा होना उसी हालत में चाहते हैं, जब वह दूसरों को नष्ट करने में लगा हो। 'हिन्दुस्तान, हिन्दुस्तानियों का' कहने का अर्थ 'जीओ और जीने दो' है। स्वतन्त्रता या आज़ादी, समानता या बराबरी, और सहयोग या मिल कर काम करना इसके मूल तत्त्व हैं।

परिशिष्ट २

राष्ट्रीयता का सदुपयोग

दूसरी बहुत सी बातों की तरह राष्ट्रीयता का भी दुरुपयोग या बुरा इस्तेमाल हो सकता है। और, बहुत से आदमी, इसके दुरुपयोग का विचार करके इस पर कुछ आक्षेप किया करते हैं। हम इस विषय की कुछ मुख्य-मुख्य बातों पर विचार करते हैं, जिससे राष्ट्रीयता के व्यवहार में इसके शुद्ध सच्चे आदर्श का ध्यान रहे, और इसका सदुपयोग या अच्छा इस्तेमाल होता रहे।

राष्ट्रीयता और व्यक्तित्व—कुछ लोग कहा करते हैं कि जब किसी देश के आदमियों में राष्ट्रीयता का भाव पैदा हो जाता है तो उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व, दया, प्रेम आदि दब जाता है; आदमी राष्ट्र की मशीन का एक पुर्जा रह जाता है। ज़रा विचार करने पर यह मालूम हो जायगा कि यह तो राष्ट्रीयता के दुरुपयोग का बहुत रँगा हुआ चित्र है। असल में राष्ट्रीयता मनुष्य को यह

शिक्षा देती है कि वह अपने विचारों को उदार और व्यापक बनावे। आदमी सिर्फ अपने लिए या अपने परिवार आदि के लिए ही नहीं है; उसे देश भर के आदमियों से, चाहे वे किसी भी जाति या धर्म आदि के क्यों न हों, प्रेम करना चाहिए, उनके सुख-दुख, आशा निराशा आदि को अपना लाभ हानि समझना चाहिए; अपने तथा अपनी जाति के स्वार्थों की बलि देकर या कुर्बानी करके भी राष्ट्र की भलाई करनी चाहिए। इस तरह राष्ट्रीयता आदमी को प्रेम, दया, त्याग आदि सद्गुणों का विकास करने में मदद देती है!

राष्ट्रीयता और धर्म—राष्ट्रीयता पर एक दोष यह लगाया जाता है कि यह धर्म का विरोध करती है; यह लोगों को धर्म छोड़ने की प्रेरणा करती है। इस सम्बन्ध में यह कहना है कि ऐसे धार्मिक आचार-व्यवहार को तो छोड़ ही दिया जाना चाहिए जो संकीर्णता या अनुदारता बढ़ाता हो, (या जो अन्ध-विश्वासों और कुरीतियों को जारी रखता हो।) हमारा धर्म ऐसा होना चाहिए जो हमारी नैतिक या इखलाकी उन्नति करते हुए हमें समाज से प्रेम और सहानुभूति करना सिखाये। ऐसे धर्म को राष्ट्रीयता से कोई डर नहीं हो सकता। असल में सच्चे धर्म और सच्ची राष्ट्रीयता का आपस में गहरा सम्बन्ध है; दोनों का, आदमी और जातियों के विकास में महत्वपूर्ण स्थान है।

राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता—कुछ लोगों का कहना है कि राष्ट्रीयता अपने क्षेत्र से बाहर की दुनिया को प्रतिद्वन्द्वी समझती है; दूसरे राष्ट्रों के नागरिकों से शत्रु या दुश्मन की तरह व्यवहार करना सिखलाती है। अकसर एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र या जाति को दबाने, उसका शोषण करने या उस पर हमला करने की तैयारी करता रहता है; इंगलैण्ड और जर्मनी की खटकती रही है, जर्मनी का रूस से संघर्ष होता है, रूस जापान के लिए डरावना है। इस तरह चारों ओर डर और आशंका फैली हुई है।

लेकिन यह तो राष्ट्रीयता का दुरुपयोग है। हमें राष्ट्रीयता के सच्चे, शुद्ध स्वरूप का ध्यान रखना चाहिए। जो हो, अन्तर्राष्ट्रीयता का मतलब यह है कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के सुख-दुख को अपना सुख दुख समझे; दूसरे के हितों में बाधा न डाले, उसके ज्ञान, अनुभव और शक्ति से उचित लाभ उठावें। अन्तर्राष्ट्रीयता का यह मतलब कभी नहीं है कि कोई देश दूसरे राष्ट्र द्वारा अपनी भूमि, जनता, सम्पत्ति या संस्कृति आदि पर आक्रमण होने की दशा में

अपनी रक्षा न करे, और उसके साम्राज्यवाद को चुपचाप सहता रहे। अन्तर्राष्ट्रीयता का ध्येय या मकसद तभी पूरा हो सकता है, जब हरेक देश बलवान हो; वह साम्राज्यावादी देश के अत्याचारों का भली भांति सामना कर सके। इसके लिए यह ज़रूरी है कि हरेक देश स्वाधीन हो और राष्ट्रीयता के भावों वाला हो। इतिहास इस बात का गवाह है कि राष्ट्रीयता के भाव ने नष्ट होती हुई जातियों को मृत्यु से बचाया, उन्हें फिर महान् और बलवान् बनाया। अन्यायी या खुदमुख्तार शासन से छुटकारा पाने के लिए प्रजा को राष्ट्रीयता से बढ़ कर कोई और सहारा नहीं मिला है। सिकन्दर, सीजर, लूई, नैपोलियन, और ज़ार आदि की आसुरी शक्तियों का सामना राष्ट्रीयता के सहारे ही अच्छी तरह किया गया है। इस तरह असली अन्तर्राष्ट्रीयता के रास्ते में राष्ट्रीयता बाधक न होकर सहायक ही होती है।

राष्ट्रीयता और मानवता—इन बातों से यही नतीजा निकलता है कि राष्ट्रीयता है तो अच्छी, लेकिन इसका दुरुपयोग भी हो सकता है। दुरुपयोग की हालत में यह अवश्य ही मानवता या इन्सानियत का विरोध करने वाली होती है। हमें चाहिए कि इसके आदर्श का ध्यान रखते हुये इसका सदुपयोग ही करें। श्री रघुवीरशरण जी दिवाकर ने 'विश्ववाणी' में ठीक ही कहा है कि "गुलाम राष्ट्र आज़ादी के लिए कोशिश करे तो उसकी यह राष्ट्रीयता मानवता के अनुकूल होगी, और वह ऐसी महान होगी कि उसके पीछे प्राणों का भी उत्सर्ग करना गौरव की बात होगी; लेकिन जहाँ एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को गुलाम बनाने या बनाये रखने के लिए कोशिश करे, वहाँ मनुष्य का कर्तव्य होगा कि वह राष्ट्रीयता के उन्माद का—मानवता के प्रतिकूल राष्ट्रीयता के इस कुत्सित स्वरूप का—विरोध करे और उसे क्षत-विक्षत करने में जान की बाज़ी लगा दे।" हमें उस राष्ट्रीयता को अपनाना है, जिसका आदर्श मानवता और विश्वबन्धुत्व हो। कौन नहीं जानता कि म० गाँधी और पं० जवाहरलाल नेहरू आदि का राष्ट्र-प्रेम विश्व-प्रेम में बाधक न होकर सहायक ही हो रहा है।